प्रकाशक—
जीतमल लूणिया
हिन्दी-साहित्य-मन्दिर
बनारस सिटी।

मुद्रक—
गणपति कृष्ण गुर्जर,
श्री लक्ष्मीनारायण प्रेस, जतनबड़,
काशी ६६५-२३।

भूमिका।

पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय ने अपने उत्कट देश-प्रेम और पराकाष्ठा की देशसेवा से केवल अपनी जन्मभूमि भारतवर्ष में ही नहीं, बल्कि देश-देशान्तर में भी जो कीर्त्ति सम्पादित की है, वह कदाचित् इने गिने भारतवासियों को ही प्राप्त हुई होगी। आप भारतीय राष्ट्रीय महासभा (इण्डियन नेशनल कांग्रेस) के आरम्भ से ही उसके प्रधान कार्यकर्ताओं तथा संचालकों में रहे हैं और राष्ट्रीय दल के प्रमुख नेताओं में आपकी गणना बहुत दिनों से होती आई है। राजनीतिक क्षेत्र एक तो यों हीं कण्टकाकीर्ण होता है, तिस पर उसका वह पार्श्व और भी अधिक कष्टकर तथा कण्टकाकीर्ण कर दिया जाता है जिसमें राष्ट्रीय भावों का प्रचार करनेवाले लोग विचरते हैं। यही कारण है कि लाला लाजपराय को अब तक नौकरशाही के हाथों समय समय पर अनेक प्रकार के भीषण कष्ट उठाने पड़े हैं। सन् १९०७ में नौकरशाही ने बिना किसी विशेष प्रमाण के केवल सन्देहवश ही आपको देश से निर्वासित करके प्रायः छः मास तक बरमा में रखा था। गत वर्ष जिस समय देश में असहयोग आन्दोलन ज़ोरों पर था और पंजाब में आप उसके प्रमुख नेता के रूप में कार्य कर रहे थे, आपको दो वर्ष के सपरिश्रम कारावास का दण्ड दिया गया था। एक तो यह वृद्धावस्था और उस पर से रुग्णावस्था, पर आपने इन बातों की कोई परवा नहीं की और अपनी मातृभूमि के हित

के विचार से आप प्रसन्नतापूर्वक सब प्रकार के कष्ट सहते रहे। नौकरशाही ने अभी हाल में ही, आपके बहुत अधिक रुग्ण हो जाने पर, आपको कारावास से मुक्त किया है। पर इन सब कष्टों और विपत्तियों के कारण, जैसा कि सच्चे देश-प्रेमियों में हुआ करता है, आपके देशप्रेम अथवा देशसेवा के संकल्प में उलटे और वृद्धि ही हुई और आप फिर नवीन उत्साह से राजनीतिक क्षेत्र में उतर कर काम करने के लिए तैयार हो रहे हैं। आपने कई बार स्वेच्छापूर्वक और कई बार नौकरशाही से तंग किये जाने पर युरोप और अमेरिका आदि की यात्रा की है। बल्कि इधर कई वर्षों तक तो आपको कई कारणों से अमेरिका में ही निवास करना पड़ा था, और अन्त में महायुद्ध की समाप्ति पर आप फिर अपने देश की सेवा करने के लिए लौट आये थे। यहाँ आकर आप जिस अदम्य उत्साह से देशसेवा में लगे रहे हैं, वह सब पर विदित ही है। पर विदेश में रह कर भी आपने अपने देश की हर प्रकार से जो सेवा की है, वह बहुत ही उच्च कोटि की और प्रशंसनीय है।

पिछली बार जब आप अमेरिका में थे, तब आपने वहाँ-वालों को अपने देश की वास्तविक अवस्था से परिचित कराने के लिए कई अच्छी अच्छी और उपयोगी पुस्तकें लिखी थीं। उन पुस्तकों में आपने अपने देश की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दुर्दशा का बहुत अच्छा दिग्दर्शन कराया था और प्रबल तर्कों तथा युक्तियों से सिद्ध कर दिया था कि इन सब दुर्दशाओं का मुख्य कारण इस देश में होनेवाला विदेशी शासन है। अमेरिका के एक बहुत बड़े राजनीतिज्ञ ने एक बार अपने एक ग्रन्थ में आपकी देशसेवाओं का उल्लेख करते हुए

लिखा था कि आपने अपने देश के विदेशी शासन और शासकों पर जो जो अभियोग लगाये हैं और जो जो दोषारोपण किये हैं, बरसों बीत जाने पर भी उन अभियोगों आदि का खण्डन करने का साहस किसी अँगरेज़ में आज तक नहीं हुआ। अमेरिका में बैठकर लिखी हुई उन्हीं पुस्तकों में से एक का नाम Young India है जिसके आधार पर तरुण-भारत नामक यह पुस्तक तैयार की गई है। इस पुस्तक में इस देश की राजनीतिक अवस्था का चित्र खींचा गया है और राजनीतिक आन्दोलन का सच्चा इतिहास तथा स्वरूप बतलाया गया है। इस पुस्तक को पढ़ते समय पाठकों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह पुस्तक अमेरिका में बैठकर वहाँ के लोगों को भारतवर्ष की वास्तविक अवस्था का परिचय कराने के उद्देश्य से लिखी गई है। दूसरे इस बात का भी ध्यान रहना चाहिए कि यह पुस्तक आज से सात आठ वर्ष पहले लिखी गई थी। लेकिन फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि अनेक दृष्टियों से यह पुस्तक आज भी उतनी ही अधिक उपयोगी और मनन करने के योग्य है जितनी वह लिखी जाने अथवा पहली बार प्रकाशित होने के समय थी। बल्कि यदि सच पूछिये तो कई कारणों से इसकी उपयोगिता आज कुछ और भी बढ़ गई है। इसका मुख्य कारण यह है कि यह हमारे देश के राजनीतिक आन्दोलन का इतिहास है और राष्ट्रीय दृष्टि से लिखा हुआ इतिहास है। इस समय देश की अवस्था बहुत ही डावाँडोल हो रही है और सर्वसाधारण अपना भावी कार्यक्रम तथा मार्ग आदि निश्चित करने में असमर्थ हो रहे हैं। ऐसी दशा में एक अनुभवी और कार्यपटु राष्ट्रीय नेता का लिखा हुआ राष्ट्रीय आन्दोलन का यह इतिहास लोगों को उनका मार्ग दिखलाने,

उन्हें पुरानी भूलों से बचाने और उन्हें अधिक सतर्क बनाकर कार्य क्षेत्र में अवतीर्ण कराने में बहुत कुछ सहायक हो सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। और वास्तव में इसी उद्देश्य से इस समय यह पुस्तक हिन्दी में प्रकाशित भी की जा रही है। आशा है, यह पुस्तक पढ़कर हिन्दी पाठकों की आँखें खुलेंगी और वे अपने देश की राजनीतिक अवस्था तथा आन्दोलन का वास्तविक स्वरूप समझने तथा उपयुक्त रूप से देशसेवा का कार्य करने में समर्थ होंगे।

अन्त में हम दो बातें और कह देना चाहते हैं। एक तो यह कि यह पुस्तक स्वयं लालाजी से आज्ञा लेकर प्रकाशित की जा रही है; और दूसरे यह कि यह लालाजी की मूल पुस्तक का अक्षरशः अनुवाद नहीं है, बल्कि इसमें उसकी केवल मुख्य मुख्य बातें संक्षिप्त रूप से दी गई हैं। विशेषतः वे अंश तो और भी छोड़ दिये गये हैं जो किसी कारण से आपत्तिजनक समझे गये हैं। हाँ, काम की जितनी बातें थीं, वे सब ले ली गई हैं; कोई आवश्यक बात छोड़ी नहीं गई है। आशा है, इस रूप में यह पुस्तक पाठकों को पसन्द आवेगी और आगे चलकर प्रकाशक महाशय को लालाजी की England's Debt to India नामक पुस्तक का छायानुवाद भी प्रकाशित करने का अवसर मिलेगा।

काशी १० सितम्बर १९२३ }   रामचंद्र वर्म्मा।

विषय-सूची ।

पहिले इसे अन्त तक ज़रूर पढ़ लीजिये।

राष्ट्रीय साहित्य ही देश में नया जीवन पैदा करता है। खेद है हिन्दी में इस समय इसकी बड़ी कमी है। इसी कमी की पूर्ति के लिये हमने **हिन्दी साहित्य मन्दिर ग्रन्थमाला** नाम की यह माला निकालना शुरू किया है। अब देशवासियों से यह प्रार्थना है कि वे इस कार्य्य में हमारा उत्साह बढ़ावें और 'एक एक बूंद से घड़ा भर जाता है' उसी प्रकार कम से कम इस माला के स्थाई ग्राहक होकर हमारी सहायता करें। स्थाई ग्राहक होने के लिये केवल एक दफ़ा आपको आठ आने देने पड़ेंगे।

स्थाई ग्राहक होने से अपूर्व लाभ।

(१) ग्रन्थमाला से प्रकाशित सब ग्रन्थ पौनी कीमत में मिलेंगे। (२) प्रकाशित या प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों में से आप जो चाहें लें, न पसन्द हो न लें, कोई बन्धन नहीं। (३) हमारे यहाँ दूसरे स्थानों की हिन्दी की प्रायः सभी उत्तम पुस्तकें मिलती हैं। इनमें से आप जो पुस्तकें हमारे यहाँ से मँगावेंगे, प्रायः उन सब पर एक आना रुपया कमीशन दिया जावेगा। (४) हमारे यहाँ जो पुस्तकें नई आवेंगी, उनकी सूचना बिना पोस्टेज लिये ही घर बैठे आपको देते रहेंगे।

क्या अब भी आप स्थाई ग्राहक न होंगे।

(१) **दिव्यजीवन**—यह पुस्तक तो आपके हाथ ही में है। मूल्य ।।।)

(२) **प्रेसीडेन्ट विलसन और संसार की स्वाधीनता**-मू० ॥-)

(३) **सर जगदीशचंद्र बोस और उनके आविष्कार**-मू० ।≈)

(४) **शिवाजी की योग्यता**—(लेखक, गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए० एल० टी०) यह पुस्तक कई ऐतिहासिक ग्रन्थों का अध्ययन कर बड़े परिश्रम से लिखी गई है। लीडर (प्रयाग) लिखता है "विदेशी लेखकों ने जो इस वीर शिरोमणि को बदनाम किया है उसका इस पुस्तक में बड़ी अच्छी तरह से खडन किया गया है। लेखक ने शिवाजी की अद्भुत वीरता अपूर्व

सेना संचालन और उत्तम राज्य-व्यवस्था के वर्णन करने में अच्छी तरह सफलता प्राप्त की है। इस विषय का ज्ञान जितना ही हमारे में फैलेगा उतना ही हमारे लिये हितकर है।" यह भी दूसरी बार छपी है। मू० ।॥)

(५) चित्राङ्गदा—(सर रवीन्द्रनाथ ठाकुर) इस पुस्तक में महाप्रतापी अर्जुन और चित्राङ्गदा का पवित्र और स्वाभाविक प्रेम का बड़ी ही सुन्दर और सुललित भाषा में वर्णन दिया गया है। अङ्गरेजी में इसी पुस्तक की कीमत ढाई रुपया है; पर हिन्दी प्रेमियों के लिये मूल्य केवल ॥) यह भी दूसरी बार छपी है। समाचार पत्रों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

(६) नागपुर की कांग्रेस—कांग्रेस का सब हाल मूल्य ।॥)

(७) स्वतन्त्रता की झनकार—भारत के प्रसिद्ध कवियों की राष्ट्रीय, अपूर्व जोशीली कविताओं का अपूर्व संग्रह—यह पुस्तक लोगों को इतनी पसंद हुई कि प्रायः छः ही मास में ११०० कापियाँ समाप्त हो गईं। अब दूसरी बार फिर छपी हैं। सचित्र मूल्य ॥)

(८)) नवयुवको ! स्वाधीन बनो !—स्वाधीनता के भावों से यह पुस्तक भरी हुई है—इसे फ़ौरन कब्ज़े में कीजिये—सचित्र मूल्य ॥)

(९) असहयोगदर्शन—(भूमिका लेखक पं० मोतीलाल नेहरू असहयोग का सच्चा रहस्य बतानेवाली हिन्दी में कोई दूसरी पुस्तक अभी तक नहीं निकली। छः महीने में ही इसकी दो हज़ार कापियाँ बिक गईं। अब दूसरी बार छपी है। मूल्य १।)

(१०) तिलक-दर्शन—(११ सुन्दर चित्रों से सुसज्जित) भूमिका लेखक प० मदनमोहन मालवीय—लो० तिलक की जीवनी और उनके व्याख्यानों का अपूर्व संग्रह—हिन्दी में इतना बड़ा ग्रन्थ अभी तक नहीं निकला। अब इसकी प्रशंसा करना व्यर्थ है। यह भी दूसरी बार छपा है। मूल्य २)

(११) हिन्दुस्थान का राष्ट्रीय झंडा—यह असहयोगदर्शन का दूसरा भाग है। दोनों पुस्तकों को अवश्य पढ़िये। मूल्य १)

[☞ पृष्ठ ३रा अन्त में पढ़िये।]

तरुण भारत ।

राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास और व्याख्या ।

पहला प्रकरण ।

भारतवर्ष का इतिहास ईस्वी सन् से हज़ारों वर्ष पहले से आरम्भ होता है। उसमें से बहुत सा तो अब भी अप्राप्य है; जो कुछ थोड़ा बहुत ज्ञात है वह केवल गत शताब्दी में ही मिल गया है और बिलकुल सामान्य रूप में रखा है। जिन जिन सामग्रियों को लेकर भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास बनाया गया है वे यहाँ बहुत दिनों से वर्तमान थीं; किन्तु पश्चिमी लोगों को उसका बहुत ही थोड़ा ज्ञान था।

हम यह नहीं कह सकते कि प्राचीन भारत का इतिहास सब प्रकार से संपूर्ण हो गया है। जो कुछ ज्ञात हुआ है वह शनैः शनैः ही हुआ है। अभी बहुत कुछ ढूँढ़ निकालना और उसका ठीक क्रम लगाना बाकी है। इसलिए भारत की प्राचीन तम सभ्यता की त्रुटियों अथवा दोषों पर अपनी सम्मति प्रकट

करना न्याययुक्त नहीं है। परन्तु इतना तो दृढ़ता से कहा जा सकता है कि ईसामसीह के जन्म से शताब्दियों पहले भारतवर्ष में अनुपम सभ्यता अद्वितीय साहित्य, एक निश्चित सामाजिक पद्धति और एक ऐसी शासन-पद्धति जो न्याययुक्त और राजा तथा प्रजा के नियमित कर्त्तव्यों पर स्थित थी, वर्तमान थी।

इसके अतिरिक्त भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य में, जिसका उलथा और व्याख्या पश्चिमी विद्वानों ने की है इस बात के यथेष्ट प्रमाण हैं कि प्राचीन भारत के लिए प्रजातंत्रीय संस्थाएँ कोई नई बात न थीं और न यही कहा जा सकता है, कि हिन्दू लोग अपने देश में एक स्थायीशक्ति के सार्वभौमिक साम्राज्य से अनभिज्ञ थे। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कितनी बार इसकी कल्पना और संगठन हुआ और संगठन कितने समय तक रहा।

भारतवर्ष पर पहला आक्रमण।

इतिहास के अनुसार भारत पर जो पहला राजनैतिक अथवा सैनिक आक्रमण हुआ वह ईस्वी सन् से तीन सौ छब्बीस वर्ष पहले सिकन्दर बादशाह का था। सिकन्दर निसंदेह कुछ ही अंशो में विजयी हुआ था; परन्तु उसने कभी भारतवर्ष को पूरी तरह से नहीं जीता और न उसको अपने आधीन किया। यहाँ तक कि वह यमुना तटवर्त्ती दिल्ली नगर तक भी न पहुँच सका था। यह कहा जाता है कि वह कुछ अफ़सरों को विजित प्रदेश पर राज्य करने के लिए पीछे छोड़ गया था, परन्तु इतिहास इस बात का पूर्ण रूप से साक्षी है कि चन्द्रगुप्त और सेल्यूकस में (जो सिकंदर

की मृत्यु के बाद वैबिलोन में प्रधान राजपुरुष था) जो युद्ध हुआ था उसमें सेल्यूकस बुरी तरह हारा था और एक संधि हुई थी जिससे भारतवर्ष की स्वाधीनता पूर्णतया स्वीकृत हुई थी। चंद्रगुप्त का राज्य विंध्याचल के उत्तर समस्त भारतवर्ष में था, पूर्व में बंगाल और आसाम तथा पश्चिम में पंजाब और अफ़गानिस्तान तक के प्रदेश उसके राज्य में थे। यह हमारे अहोभाग्य हैं कि मेगस्थिनीज़ ने जो चन्द्रगुप्त के दरबार में यूनानी राजदूत था अथवा उसके अन्य समकालीन यूनानी लेखकों ने भारत की तत्कालीन अवस्था के संबंध में जो लेख लिखे हैं, वे हमारे लिए क़ाफी प्रमाण हैं।

चंद्रगुप्त और अशोक।

प्रत्येक भारतवासी के लिए मेगस्थिनीज़ लिखित चंद्रगुप्त के साम्राज्य और उसके शासन का सविस्तर वर्णन कुछ कम अभिमान की बात नहीं है। चंद्रगुप्त का शासन आधुनिक युरोप के प्रत्येक राजनैतिक संगठन और पद्धति आदि से युक्त था। उसके अधीन एक अलग श्रमविभाग, जन्म मरण, विवाह आदि लिखने के लिए एक अलग विभाग; एक मंत्री के अधीन दान पुण्य आदि का प्रबंध, एक के अधीन वाणिज्य विभाग और एक के अधीन कृषि विभाग था। इस प्रकार प्रत्येक विभाग के लिए एक अलग मंत्री था। राज्य में विशाल जल तथा स्थल सेना और एक मुद्रा-विभाग भी था। उस समय भी भारत-वासी जो सत्यता तथा प्रमाणिकता के लिए प्रसिद्ध थे, वाणिज्य संबंधी समस्त व्यवहारों आदि से अनभिज्ञ न थे। दस्तावेज़ (प्रमाणपत्र) की अपेक्षा उनका वचन अधिक प्रमाणिक था। चंद्रगुप्त के पीछे राजा अशोक हुआ था। वह भारतवर्ष के

ऐतिहासिक काल में सबसे बड़ा और महात्मा सम्राट था। उसके समय में समस्त भारतवर्ष एक छत्र के अधीन हो गया था। वह बल के अपेक्षा प्रेम से शासन करता था। यहाँ तक कि वह जीव जंतुओं से भी प्रेम करता था। यह भी कहा जाता है कि उसने पशुओं तक की चिकित्सा के लिए चिकित्सालय खुलवाये थे। ये सब बातें ईसामसीह के जन्म से पूर्व ही हुई थीं।

ईस्वी सन् से तीन सौ छब्बीस वर्ष पहले से लेकर आठवीं शताब्दी के मध्य तक भारतवर्ष पर कभी विदेशी शासक का अधिकार नहीं हुआ; अथवा यों कहिए कि इस समय तक किसी दूसरे देश के हाथ में उसका शासनाधिकार नहीं गया था। हाँ, कभी कभी मध्य एशिया से कुछ खानाबदोशी जातियाँ भारत में घुस आती थीं, पर वे भी अन्त में इस देश के शक्तिशाली आर्य्यों में मिल जुल कर लुप्त हो हो जाती थीं।

भारतवर्ष पर जो दूसरा बाहरी आक्रमण हुआ और भारतीय इतिहास तथा संस्थाओं पर जिसका स्थायी प्रभाव पड़ा, और जिसके साथ ही साथ भारतीय इतिहास में एक बिलकुल नये युग का संचार हुआ था वह आठवीं शताब्दी के मध्य में अबुलकासिम का था। पूरे चार सौ वर्ष तक मुसलमान लोग भारत के दरवाज़े पर टकराते रहे, पर वे देश में अपना राज्य स्थापित न कर सके। कुतुबुद्दीन ऐबक जिसने सन् १२०६ में अपना राज्य स्थापित किया था दिल्ली का पहला मुसलमान बादशाह था। आठवीं शताब्दी से बारहवी शताब्दी तक सिंध का कुछ भाग और पंजाब मुसलमानों के अधीन रहा परन्तु जब तक कि दिल्ली के अंतिम राजपूत सम्राट पृथ्वी राज सन् ११९२ में अपने दूसरे राजपूत भाई के विश्वासघात

के कारण हराए न गये तब तक न तो भारतवर्ष ही विदेशियों के द्वारा जीता गया था और न हिन्दू लोग हारे ही थे।

बारहवीं शताब्दी तक भारत वस्तुतः स्वतंत्र था।

इससे यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष ईसवीं तेरहवीं शताब्दी के आरंभ तक वस्तुतः स्वाधीन सा था। स्वाधीनता से हमारा यह अभिप्राय है कि उस पर किसी प्रकार को विदेशी शासन नहीं था। पंजाब के उत्तर पश्चिमी प्रदेश और सिंध का थोड़ा सा भाग केवल कुछ समय तक मुसलमानी राज्य के अंतरगत था, किन्तु मुख्य भाग भारतीय राजाओं तथा देशी शासन के अधीन था, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। जो जातियाँ सिकंदर बादशाह के आक्रमण के उपरान्त और अबुलकासिम के आक्रमण के पहले भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में आई थीं वे यहाँ आकर बस गई थीं। बसने के उपरान्त उन्होंने इसी देश का धर्म तथा सामाजिक जीवन ग्रहण कर लिया और वे यहीं के निवासियों में मिल जुल गईं। तब से उन लोगों में तथा भारत के प्राचीन निवासियों में फिर कोई अंतर नहीं रह गया था।

मुसलमानी राज्य।

भारतवर्ष में मुसलमानी राज्य छः शताब्दियों तक भिन्न भिन्न दशा में रहा। तीन शताब्दियों तक अथवा तेरहवीं शताब्दी से ले कर सोलहवीं शताब्दी के आरंभ तक वह वस्तुतः उत्तरीय भारत तक ही परिमित रहा। दक्षिण, राजपूताना और मध्यभारत अकबर से पहले कभी पूर्णतः मुसलमानों के अधिकार में नहीं गया था। वह सदा थोड़ा बहुत

स्वतंत्र रहा। पर अकबर भी उदयपुर के अजय्य राणा प्रताप पर विजय पाने में असमर्थ रहा। राणा प्रताप हार गये, अपनी राजधानी से निकाल दिये गए, उनका पीछा किया गया। तात्पर्य यह है कि उन्होंने अनेक प्रकार के कष्ट सहे पर उन्होंने कभी मुगल साम्राज्य के आगे सिर न झुकाया।

अकबर ने प्रायः सभी राजपूत राजाओं को अपने अधिकार में कर लिया था। किसी को भुजबल से और किसी को मित्र भाव से उसने अपनी ओर मिला लिया था। किन्तु शिसोदिया राज ने कभी भी उसके आगे घुटने न टेके। उसके देशवासी हृदय से उसका पूजन करते थे। हिन्दुओं में उस समय भी जन्मभूमि और स्वतंत्रता के प्रति इतना अगाध प्रेम था कि जब एक बार अकबर ने अपने दरबार में इस बात की घोषणा की कि प्रताप ने अधीनता स्वीकार करने की प्रार्थना की है तब राजपूत दरबारियों को उसकी बात पर विश्वास ही न हुआ। यह बात सभी लोग जानते हैं कि उन दरबारियों में से पृथ्वीराज नामक एक कवि ने प्रताप को लिखा था कि इस समाचार ने मेरे हृदय में अकथनीय खेद उत्पन्न कर दिया है। यदि आपने भी मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली तो सदा के लिए हिन्दुओं का प्रताप-सूर्य्य अस्त हो जायगा। प्रताप ने उसे उत्तर दिया था कि यह समाचार बिलकुल मिथ्या है। मैं कभी मुगलों से न दबूँगा और सदा अपनी स्वाधीनता की पताका फहराता रहूँगा। इससे यह प्रमाणित होता है कि अकबर का एक हिन्दू नौकर जिसने यद्यपि मुग़लों की अधीनता स्वीकार कर ली थी, और जो उनका सेवक भी हो गया था, ऐसी बातों का किस दृष्टि से देखता था। यद्यपि वह स्वयं परास्त हो चुका था तथापि जब

तक कि राणाप्रताप मुगलों से मुठ भेड़ करने के लिए तैयार था, तब तक वह कभी यह स्वीकार न कर सकता था कि हिन्दू लोग पूर्णतः परास्त हो गये हैं।

सोलहवीं शताब्दी में अकबर का अपने अधीनस्थ और आश्रित एक हिन्दू सेवक को इस धृष्टता और सरलता से अपने स्वातंत्र्य-प्रेम को प्रकट करने देना उसकी उदार-बुद्धि का अच्छा परिचय देता है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि अकबर प्रायः सभी उत्तम राजपूत घरानों को मित्र बनाने में सफल हो चुका था। अभिमानी राठौर ने अपनी पुत्री उसको व्याही थी और कछवाहे बीकानेर और बूँदीवाले भी उसके आश्रित हो चुके थे। राणा प्रताप को अकबर और उसके साथी अपने घनिष्ट संबंधी राजपूत भाइयों की सेनाओं से अकेले लड़ना पड़ा था। तथापि वह अकेला ही प्रायः पचीस वर्ष तक अकबर के शक्तिशाली साम्राज्य से, जो उसको विजय करने के लिए कटिबद्ध हो चुका था, लड़ता भिड़ता रहा। करनल टाड साहब भावपूर्ण वाक्यों में कहते हैं—"जो लोग अनुकूल परिस्थितियों में राज्य का निर्माण करते हैं, उन लोगों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रताप ने अपने छोटे से राज्य के भरोसे पर, किस प्रकार के भाव रख कर अपने समय के सबसे बड़े और ऐसे साम्राज्य का मुकाबला किया था जिसके सैनिकों की संख्या और युद्ध-निपुणता उन सैनिकों की संख्या और युद्ध-निपुणता से भी बढ़ी चढ़ी थी जिनको ले कर फारसवालों ने यूनान की स्वतंत्रता नष्ट करने के लिए उस पर चढाई की थी।

मृत्यु शय्या पर पड़े हुए राणा प्रताप ने अपने उत्तराधिकारी को अपने देश की स्वाधीनता के वैरियों से सदा लड़ते रहने की शपथ खिलवाई थी। यह सब सोलहवीं शताब्दी में

हुआ था, जब कि मुसलमान बादशाहों को दिल्ली के सिंहासन पर बैठे अभी केवल चार ही सौ वर्ष हुए थे। इस घटना को हुए मुश्किल से अभी सौ ही वर्ष बीते थे कि हिन्दुओं को पुनः मुसलमानों का प्रभुत्व खटकने लगा। सन् १७०७ में औरंगज़ेब के मरने के पूर्व ही पंजाब में सिक्खों, मध्य भारत में राजपूतों और दक्षिण में मराठों ने उनसे लड़ना भिड़ना आरम्भ कर दिया। मुसलमानी अधिपत्य अंगरेज़ों ने नहीं बल्कि हिन्दुओं ने ही नष्ट किया था।

भारत में मुसलमानी राज्य विदेशी नहीं था।

यह कहना कि मुसलमानी राज्य विदेशी था, न्यायसंगत नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि मुसलमान आक्रमणकारी भारत के लिए मूलतः उतने ही विदेशी थे जितने कि इंग्लैण्ड में पहले पहल आनेवाले नारमन और डेन हो सकते हैं। किन्तु जब वे यहाँ आकर बस गए, उन्होंने इस देश को अपना लिया, उसे अपना घर मान लिया, यहीं विवाह आदि करके अपना कुटुंब बढ़ाया तब वे इसी देश के निवासी हो गए। अकबर और औरंगज़ेब उतने ही भारतीय थे जितने आजकल के दिल्ली तथा और स्थानों के मुगल और पठान हैं। शेरशाह और इब्राहीम लोदी उसी प्रकार भारत में विदेशी नहीं थे जिस प्रकार ग्रेटब्रिटेन में विजयी विलियम (William the conqueror) के वंशज वा आरेंज के विलियम (William of Orange के उत्तराधिकारी गण नहीं थे। जिस समय तैमूर, नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली ने भारत पर आक्रमण किया था, उस समय उन्होंने एक भारतीय मुसलमान का राज्य भी लूटा था। वे भारत के मुसलमान राजाओं के उतने ही शत्रु थे जितने कि हिन्दुओं के थे।

जो मुसलमान शासक भारत में तेरहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं के मध्य समय तक अधिपति थे, वे जन्म, विवाह तथा मरण आदि सभी के विचार से भारतीय ही थे। वे भारत ही में पैदा हुए, यहीं उन्होंने विवाह आदि किये, वे यहीं मरे और अंत में गाड़े भी यहीं गए। भारत में उनके द्वारा वसूल किये हुए कर की कौड़ी भारत ही में व्यय हुई थी। उनकी सेना पूर्णतः भारतीय ही थी। उन्होंने हिन्दुस्तान की सीमा के बाहर के कितने ही नये कुटुम्बों को यहाँ आने और बसने की आज्ञा दी थी। पर वे कभी ऐसे आदमी को अपनी सेवा में न रखते थे जो सदा के लिए भारत में आने और यहीं बसने के लिए तैयार न होता था। हिन्दुओं के साथ यदि उनका कोई मनमुटाव या वैमनस्य था तो वह राजनैतिक नहीं बल्कि धार्मिक था। पहले असली मुसलमानों की अपेक्षा बनाये हुए मुसलमानों का कुछ विशेष आदर किया जाता था। अकबर ने तो यह भेद भाव बिलकुल मिटा ही दिया था पर भारत के सबसे अधिक धर्मांध और कट्टर मुसलमानी बादशाह (औरंगज़ेब) में भी उतना अधिक सामाजिक अभिमान तथा भेद भाव न था जितना कि आजकल भारत के अँगरेज़ों में है। मुसलमानों के आधिपत्य-काल में यदि भारत में कभी जाति-भेद का कोई प्रश्न उठता भी था तो वह हिन्दुओं और मुसलमानों में नहीं उठता था, बल्कि मुसलमानों में ही आपस में उठता था। उदाहरणार्थ, जैसे तुगलकों और पठानों या मुगलों और लोदियों आदि में।* शेरशाह, अकबर, जहाँगीर और शाह-

---

* अट्ठारहवीं शताब्दी तक का युरोप का इतिहास ऐसे ही जातीय तथा धार्म्मिक झगड़ों से भरा पड़ा है।

जहाँ आदि सम्राटों के राज्यकाल में राज वंश के लोगों के उपरांत हिन्दू लोग ही राज्य के ऊँचे से ऊँचे पदों के योग्य समझे जाते थे। वे सूबों के सूबेदार, सेनाओं के सेनापति और नगरों तथा ज़िलों के अधिकारी और शासक बनाये जाते थे। तात्पर्य यह कि हिन्दुओं और मुसलमानो में राजनीतिक अथवा सामाजिक भेद भाव बिलकुल न था। यदि राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से देखा जाय तो मुगलों का शासन उतना ही भारतीय था जितना हिन्दुओं का शासन हो सकता है।

मुसलमानों ने न तो कभी प्रजा को निःशस्त्र करने का ही प्रयत्न किया और न उनके शस्त्र बनाने या बाहर से मँगवाने में ही कुछ रोक टोक की। उन्होंने अरब, फारस अथवा अफगानिस्तान से अपने कर्मचारी भरती करके नहीं मँगवाये थे। उनको लंकाशायर के व्यवसाय की रक्षा नहीं करनी पड़ती थी और न भारत में बने हुए माल पर राजकीय कर लगाने की आवश्यकता ही होती थी। वे अपनी भाषा और अपना साहित्य अपने साथ लाए थे। कुछ काल तक तो वे उसी भाषा की सहायता से राज कार्य करते रहे; पर बाद में उन्होंने एक ऐसी भाषा निकाली जो उतनी ही भारतीय है जितनी कि अन्य देशी भाषाएँ जो आजकल भारतवर्ष में प्रचलित हैं, शुद्ध भारतीय ही है।

भारत में मुसलमान शासकों को फारस और अफगानिस्तान के श्रमजीवियों का ऐश्वर्य बढ़ाने की चिंता न थी उनसे उनका कुछ भी संबंध न था। जो कोई उनका संरक्षण चाहता था, उसको भारत में आ कर यहीं बसना पड़ता था। उनका शासन भारतीय शासन था न कि विदेशी।

इतिहास में भारत में अँगरेज़ों के आने के पूर्व का कोई ऐसा उदाहरण न मिलेगा जिससे यह प्रमाणित होता हो कि भारतवर्ष पर किसी ऐसी विदेशी जाति का शासन था जो वास्तव में भारतीय रुधिर से उत्पन्न न हो और जिसने पर जाति अथवा परदेश के हित के लिए शासन किया हो। भारतवर्ष सदा एक अलग साम्राज्य रहा है, * वह कभी किसी अन्य साम्राज्य के अंतर्गत नहीं रहा, किसी के अधीन रहना तो बहुत दूर की बात है। उसकी निज की ही जल और स्थल सेना थी, निज का ही झंडा था। उसके कर इत्यादि की आय उसी के हित के लिए व्यय होती रही। उसका अपना वाणिज्य था और उसमें वही वस्तुएँ बनती थीं जो उसमें खप जाती थीं। यदि कोई भारत के कुछ खास शर्तों पर वाणिज्य-व्यवसाय करने का अधिकार चाहता, तो उसको राज्य से आज्ञा लेनी पड़ती थी, जिस प्रकार ईस्ट इंडिया कंपनी को लेनी पड़ी थी। अरब, फारस अथवा काबुल में इंडिया आफिस (भारत शासन संबंधी कार्यालय) न था जिसका मुँह भारत की प्रजा को अपने देशी मामलों के लिए ताकना पड़ता।

अँगरेज़ों के अधीन भारतवर्ष।

पर अब अँगरेज़ों की अधीनता में आकर भारत पहले से बिलकुल भिन्न हो गया है। इतिहास में पहली ही बार वह एक दूसरे और विदेशी साम्राज्य के अंतर्गत हुआ है। भारत में आज अपना साम्राज्य नहीं है, किन्तु वह ब्रिटिश साम्राज्य

* कहा जाता है कि थोड़े दिनों तक भारत का उत्तर-पश्चिमी प्रांत डेरियस (दारा) के साम्राज्य के अंतर्गत चला गया था और डेरियस को कर देता था, किन्तु वह शासन भी देशी ही था, विदेशी नहीं था।

का एक वैसा ही अङ्ग है जैसा कि इंग्लैण्ड कभी रोम साम्राज्य का था । इतिहास में पहली ही बार वह इस पराधीनता और अधोगति को पहुँचा, एक विदेशी राज्य द्वारा शासित हुआ और पराधीनता की दशा में एक अन्य दूरवर्ती जाति द्वारा शासित होता है। पहली ही बार वह एक ऐसे राजा द्वारा शासित होता है जो स्वयं तो भारत में रहता ही नहीं है और प्रति पाँचवें वर्ष विदेश में रहनेवाले मंत्री का आज्ञा पालक अपना एक प्रतिनिधि इस देश का प्रबंध करने के लिए भेज देता है । पहली ही बार वह ऐसे लोगों के द्वारा शासित होता है जो यहाँ आते हैं और फिर चले जाते हैं । भारत की शासन-पद्धति भारत के बाहर निश्चित होती है। समस्त सरकारी प्रधान प्रधान कार्य जैसे, सेना का परिचालन, राजकीय आय की व्यवस्था, ज़िलों और डिवीज़नों का शासन, टकसाल, न्याय विभाग, करों का लगाना इत्यादि विशेषतः ऐसे विदेशियों के हाथों में सौंपे जाते हैं जिनका इस देश से किंचित् मात्र भी संबंध नहीं होता। यदि कोई संबंध है तो वह केवल यही कि वे सरकार के नौकर हैं; पर यह संबंध भी उनकी नौकरी के समय तक ही रहता है । इन कर्मचारियों की भरती और नियुक्ति भारत के बाहर ही होती है । भारतीय तो वस्तुतः इनमें से अधिकांश कार्यों के लिए अयोग्य ही समझे जाते हैं। गत १५० वर्षों में भारत में ब्रिटिश राज्य में कोई भारतीय किसी प्रांत का शासक नहीं बनाया गया है* भारतवासी सेना में उच्च पद पाने के अयोग्य समझे जाते हैं और स्वयं-सेवक भी नहीं बन सकते ।

---

* मूल पुस्तक के लिखे जाने के बरसों बाद एक भारतीय लार्ड सिंह बिहार प्रान्त के गवर्नर बनाये गये थे ।—अनुवादक ।

अपने ही देश की सिविल-सर्विस के योग्य बनाने के लिए उनको छः हजार मील की यात्रा करनी पड़ती है। और मज़ा यह है कि वहाँ की परीक्षा में यदि वे उत्तीर्ण न हुए तो फिर दोबारा वे उसमें सम्मिलित होने के योग्य भी नहीं रह जाते।

भारतीयों की राजनीतिक अयोग्यता।

भारत के राजनीतिक इतिहास में यह पहला ही अवसर है कि भारतवासी होना ही राजनीतिक दृष्टि से अयोग्य समझा जाता है। एक अंगरेज़ का बच्चा यदि भारत में बस जाय और एक भारतीय रमणी से विवाह कर ले तो इतने ही से वह अपने गौरव तथा अधिकार से वंचित हो जाता है। किसी भारतीय सज्जन का एक अंगरेज़ महिला से उत्पन्न पुत्र भी कोई विशेष अधिकार अथवा पद नहीं पा सकता, इस प्रकार की न्यूनता अथवा अयोग्यता केवल भारतीय वीर्य और उत्पत्ति ही में है। मुसलमानी राज्य में यदि कोई मुसलमान भारतीय स्त्री से विवाह कर लेता या कोई हिन्दू फारस या अफगानिस्तान की किसी स्त्री से विवाह कर लेता तो उसके राजनीतिक अधिकारों में कोई बाधा नहीं पहुँचती थी। यहाँ का कोई ईसाई भारतीय किसी हिन्दू या मुसलमान की अपेक्षा कुछ भी अच्छी दशा में नहीं है। तात्पर्य्य यह है कि राजनीतिक दृष्टि से भारतवासी जो अयोग्य समझे जाते हैं, उसका कारण धार्मिक मत भेद आदि नहीं है, बल्कि यह कारण है कि उनका जन्म भारत में हुआ है और भारतीय रक्त-वीर्य्य से हुआ है।

भारतवर्ष पहले कभी मुट्ठी भर ऐसे सिविल और सैनिक कर्मचारियों द्वारा शासित न होता था जो केवल कुछ समय के लिए यहाँ शासन करने आते हैं और समय पूरा हो जाने पर

दूसरों को उतने ही अस्थायी समय तक शासन करने के लिए छोड़कर चले जाते हैं। इससे जो कुछ इन लोगों को द्रव्य रूप में दिया जाता है वह सब अथवा उसका अधिक अंश भारतवर्ष खो बैठता है। ये लोग जो कुछ अनुभव भारत में रहकर भिन्न भिन्न विभागों के प्रबंध से प्राप्त करते हैं, वह नष्ट हो जाता है और फिर भारत इस संतोष और अभिमान से वंचित रह जाता है कि ये लोग हमारी सन्तान हैं, और बदले में ये लोग भी सन्तान के नाते से अपनी माता के लिए अभिमान करेंगे। वे उसके शासक बनकर आते हैं और अंत तक शासक ही बने रहते हैं। उनके लड़के और पोते शासक ही होकर आ सकते हैं, न कि देश की सन्तान होकर। भारत की सन्तान चाहे कितना ही उच्च पद क्यों न प्राप्त कर ले, वह अंगरेज़ों की नौकर ही रहेगी। हिन्दुस्तान की नौकरी में उनका स्थान प्रायः अंगरेज़ स्वामियों के लिए पानी भरने तथा लकड़ी काटनेवालों के समान ही है।

समस्त यूरोपियन यहाँ तक कि अरमेनियन, यहूदी और यूरेशियन बिना लाइसेंस के हथियार रख सकते हैं, पर भारतवासी नहीं रख सकते।

भारत में भारतीय प्रजा को, उन लोगों के सिवा, जिन्हें विशेष आज्ञा मिल गई है, हथियार रखने की आज्ञा नहीं है। यह आज्ञा एक तो यों ही बहुत ही कम मिली है, और यदि मिलती भी है तो कुछ खास कृपा या रियायत से मिलती है, न कि अधिकार के कारण। कुछ बड़े बड़े रईस और अमीर भारत में ही केवल विदेशी शासकों के अनुग्रह से आर्म्स ऐक्ट

से बरी हैं। अपने ही देश के पहाड़ों में जहाँ लोगों के पिता, पितामह और प्रपितामह ने जन्म लिया, जहाँ शायद राजकीय अथवा दूसरे उच्च पदों पर रहे, और अंत में मर कर वहाँ की भूमि को अपने रुधिर से सींचकर उपजाऊ बना गये, और अभी केवल एक शताब्दी पूर्व ही जहाँ वे स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करते थे, वहीं वे और उनकी संतानें धूप या वर्षा से बचने के लिए अपने देश के विदेशी शासकों से सबसे अधम पुरुष के घातक पादप्रहार अथवा घुड़की के भय से छाता तक नहीं लगा सकते हैं।*

हिमपूर्ण श्वेत हिमालय पर्वत में, जहाँ उनके परम पूजनीय देवताओं का पवित्र स्थान है, वे अनेक स्थानों में नहीं जाने पाते; क्योंकि श्वेतचर्म अँगरेज़ देवताओं को उन स्थानों से प्रेम हो गया है। केवल इतना ही नहीं, भारत के बाहर विदेश में भी भारतवासी अपनी राजनीतिक अधीनता का चिह्न अपने साथ लिए जाते हैं। अन्य देशों की अपेक्षा ब्रिटिश उपनिवेश उनको अपने यहाँ आने से अधिक रोकते हैं। भारतवासी समस्त भूमण्डल में अत्यन्त निकृष्ट माने जाते हैं। जब अपने देश में ही वे अपनी सब दुर्दशा देखते हैं, तब भला और देशों से वे क्या आशा रख सकते हैं? ब्रिटिश गवर्नमेंट स्वयं नहीं चाहती कि भारतवासी कुली की हैसियत के सिवा और किसी अच्छी हैसियत में विदेशों में जायँ। वे इंग्लैण्ड में घूमने फिरने के लिए जा सकते हैं, पर वहाँ भी सरकार उन्हें

---

* देखो सर हेनरी काटन लिखित न्यू इण्डिया (१९०७) पृष्ठ ६८, ६९, और ७०।

अधिक संख्या में रहने देना नहीं चाहती। उनका अमेरिका में जाना और वहाँ बसना तो उसे बिलकुल ही अभीष्ट नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है। देश-पर्य्यटन से उनको भारत के ब्रिटिश शासन और अन्य देशों के शासनों से मुकाबला करने का मौका मिलता है। स्वतन्त्रता के भाव उनके हृदय में उठते हैं जो भारत में ब्रिटिश आधिपत्य के लिए हानिकारक हैं। पहले से भारतवासियों में ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति जो अच्छे भाव रहते हैं, वे दूसरे देशों की दशा देखने पर बिलकुल बदल जाते हैं। भारतीय यात्री जब यात्रा करके वापस आता है तब उसके हृदय में असन्तोष का वास हो जाता है। अपनी यात्रा में कोई कोई भारतीय युरोप के राजद्रोही पुरुषों से भी मिलते हैं। ये सब बातें भला अँगरेज़ लोग कब चाहेंगे।

इधर थोड़े दिनों से अँगरेज़ लोग भारतीयों को विदेश-यात्रा करने से रोकने की और भी युक्तियाँ कर रहे हैं। वे भारतीय विद्यार्थियों के लिए ऐसे विकट और बाधक नियम बना रहे हैं जिससे वे ग्रेटब्रिटेन में जा ही न सकें। पहले जितनी शिक्षा और योग्यता प्राप्त करके वे अँगरेज़ी विश्वविद्यालयों और अन्यान्य विद्यापीठों में भरती होने के योग्य होते थे, अब उससे और भी अधिक शिक्षा और योग्यता उन्हें प्राप्त करनी पड़ती है। तात्पर्य यह कि उनके मार्ग में और भी बाधाएँ खड़ी कर दी गई हैं। उन्होंने लन्दन में एक ऐसी सरकारी संस्था बना रखी है जो प्रकट रूप में तो विद्यार्थियों की रक्षक और सलाहकार है, पर जो वास्तव में उन्हें अँगरेज़ी विश्वविद्यालयों में भरती होने के लिए निरुत्साहित करती है, उनके आचरण की शिकायत उनके घरवालों से करती है और इस बात पर ज़ोर देती है कि अँगरेज़ी विश्वविद्यालयों में सब

भारतीय विद्यार्थी केवल हमारे ही द्वारा, हमारी ही सिफ़ारिश से भर्ती हुआ करें ।*

भारत के प्रत्येक बन्दरगाह पर पुलिस कर्मचारी रहते हैं जो विदेश जानेवाले प्रत्येक भारतीय का नाम, पता आदि और अनेक दूसरी बातें पूछ कर नोट कर लेते हैं; और तब फिर वह चाहे कहीं जाय, एक आदमी प्रायः सदा उसके पीछे छाया की तरह लगा रहता है। उस भारतीय के लिए संसार के अन्य राज्यों में अंगरेज़ी राजदूत का होना न होने के ही तुल्य है। उसे उससे कोई सहायता पाने की आशा रखते हुए इस बात का भय लगता है कि कहीं वह घुड़क न दे या अपमानित न कर दे; अथवा वह कहीं ऐसे कारण न रच डाले जो उसे शीघ्र ही देश छोड़ देने को बाध्य करें। उस राजदूत की भूल तो कोई भूल ही नहीं है। यदि उस भारतवासी के साथ कोई अत्याचार किया जाय, उसे अपमानित किया जाय, लूटा जाय अथवा उसके साथ कोई अन्य दुर्व्यवहार किया जाय तो वहाँ उसकी पुकार सुनने के लिए मानों कोई गवर्नमेण्ट ही नहीं है। अँगरेज़ी गवर्नमेण्ट दूसरे राज्यों के इस दुर्व्यवहार पर कुछ भी असंतोष नहीं प्रकट करती, बल्कि उलटे प्रसन्न होती है। और कहीं कहीं तो यह भी देखा गया है कि उसने इस बात का भा यत्न किया तथा उन पर अपना प्रभाव डाला है कि ये भारतीय उन विदेशी राज्यों में घुसने न पावें। ब्रिटिश साम्राज्य के स्वाधीन राज्यों और उपनिवेशों ने भारतवासियों को अपने देशों में आने से रोकने के लिए निष्ठुर और द्वेषपूर्ण नियमों तथा उपनियमों की पक्की दीवार बना रखी है। अब

* इङ्गलैण्ड के अधिकांश विद्यार्थियों का यही कथन है। पर गवर्नमेंट उसका खण्डन करती है।

जब तक भारतवासी वहाँ के उन अनुचित तथा निष्ठुर कानूनों का सामना करने को तैयार न हों, वहाँ यात्रा, प्रमोद अथवा पठन-पाठन के लिए जा ही नहीं सकते। अलबत्ता उन प्रदेशों में जहाँ अँगरेज़ी राज्य नहीं है, वे कहीं अच्छे दृष्टि से देखे जाते हैं। कुछ ही समय पहले भारतवासी उन देशों में स्वतंत्रता से जा सकते थे। किसी युरोपीय देश में उनके जाने में किसी प्रकार की रोक टोक नहीं है। कुछ समय से यह कहा जाता है कि अमेरिका के संयुक्त राज्य कुछ रोक टोक करने लगे हैं। किन्तु यदि वह अमेरिका में पहुँच जाता है और वहाँ के विश्वविद्यालयों आदि की शर्तें पूरी कर देता है और वहाँ की नियम प्रणाली को मान लेता है, तब वहाँ के विश्वविद्यालय और अन्य संस्थाएँ उसे अपने यहाँ स्थान दे देती हैं और फिर उसके मार्ग में कोई नई बाधा नहीं खड़ी की जाती। पर ग्रेट ब्रिटेन के लिए यह बात नहीं कही जा सकती। यह सत्य है कि ग्रेट ब्रिटेन में जैसे और किसी के आने जाने में कोई रुकावट नहीं है, वैसे ही भारतवासियों के लिए भी नहीं है, तथापि वहाँ ऐसी अँगरेज़ी संस्थाएँ हैं जो किसी भारतीय विद्यार्थी को चाहे वह कितने ही उत्तम कुल और स्थिति का क्यों न हो, इसे अपने यहाँ विद्यार्थी के रूप में नहीं सम्मिलित करतीं। और फिर जो संस्थाएँ इन्हें शिक्षा देने के लिए अपने यहाँ दाखिल भी करती हैं, वे इन्हें सैनिक कवायद नहीं सिखलाती। न उनको स्वयं-सेवक दल में ही लेती हैं और न उनको बालचरों में ही। बहुत से अँगरेज़ी क्लब उनसे संबंध ही नहीं रखते। बस एक नेशनल लिबरल क्लब ही ऐसा है जो उनका स्वागत करता है और जिसके बहुत से भारतीय विद्यार्थी सभासद हैं।

अँगरेज़ अवश्य ही बड़े कल्पनाहीन पुरुष होंगे यदि वे यह सोचते हों कि यह सब देख कर भी भारतीय अपनी इस अत्यंत हीन दशा का अनुभव नहीं करते। भारतीय इन सब बातों का कारण स्वभावतः यही समझते हैं कि हमारे देश में कोई ऐसी राष्ट्रीय सरकार नहीं है जो हमारी रक्षा और हमारा हित-साधन कर सके। ये बातें उनको स्मरण दिलाती हैं कि हम एक पराधीन जाति के हैं। और हमारा देश स्वाधीन न होने के कारण संसार के देशों में गण्य नहीं है। न हमारा राजदूत ही कहीं है न हमारा कोई राज-चिह्न ही है। और न हमारा राष्ट्र प्रतिनिधि ही कहीं है जो विदेश में अपने देश-वासियों की रक्षा कर सके। उसे विवश होकर समझना पड़ता है कि संसार के अन्य सभ्य मनुष्यों में हमारी कोई गणना ही नहीं है। इन सब बातों का असर उसके मन पर पड़ता है और वह गरम दल का हो जाता है। वह सोचता है कि इस निन्दनीय और घृणित जीवन से बढ़ कर खराब और कोई बात हो ही नहीं सकती।

उन लोगों के लिए जो कभी ऐसी स्थिति में न रहे हों, इस घृणा और लज्जायुक्त दशा का अनुभव करना अत्यंत कठिन है। यदि क्षण भर के लिए अंगरेज़ अपने आपको ठीक उसी स्थिति में समझें, तब वे एक भारतीय राजनीतिज्ञ के कथन की यथार्थता समझेंगे। कुछ क्षण के लिए वे मान लें कि जरमनों ने अंगरेज़ों को जीतकर अगरेज़ी जाति पर अपना आधिपत्य कर लिया है। अंगरेज़ लोग यह बात कैसे मंजूर करेंगे कि जर्मन चैंसेलर द्वारा नियुक्त कैसर के प्रतिनिधि, जर्मन सभा-सदोंवाली काउन्सिल और प्रशिया से आए हुए कर्मचारीगण जिनमें गिनती के अंगरेज़ हों; उन पर शासन करें? जर्मनी की

शासन-पद्धति की सर्वांगपूर्णता सब लोग जानते हैं। जर्मनी का शक्तिमय शासन आयर्लैंण्ड को शांत कर सकेगा, मताधिकार चाहनेवाली स्त्रियों को दबा सकेगा और रोमन कैथलिक इत्यादि प्रजा में से शांति भंग करनेवालों का दमन कर सकेगा। जर्मन लोग शायद छोटे छोटे पदों पर बहुत से अंगरेज़ों की नियुक्ति कर दें, सेना तथा पुलिस विभाग में उनको अच्छा वेतन, खिताब और उपाधियाँ दें और उनके लिए बड़े बड़े और अभूतपूर्व इंजीनियरी के कारखाने आदि बनवा दें, उनकी प्रारंभिक शिक्षा, धार्मिक तथा घरेलू काम काज के लिए उन्हीं की संस्थाएँ रहने दें। क्या अंगरेज़ लोग इससे संतुष्ट और राजी हो जायँगे? क्या वे जर्मन शासन को हितकर समझेंगे और केवल व्यापारिक आय को ही उसकी उत्तमता की कसौटी मान लेंगे? नहीं, कदापि नहीं*। तब क्यों वे भारतवासियों की देश-भक्ति और भारत के लिए स्वराज्य चाहनेवालों की शुभ इच्छा पर नाक मुँह सिकोड़ते हैं? क्या सर हेनरी केम्पबेल बेनरमान ने नहीं कहा है कि अच्छी से अच्छी गवर्नमेण्ट भी स्वराज्य का स्थान ग्रहण नहीं कर सकती है।

सच तो यह है कि किसी स्वतन्त्र देश में जन्म लेनेवाले किसी स्वतन्त्र नागरिक के लिए यह बिलकुल ही असम्भव है कि वह अपने आपको पराधीन प्रजा की दशा में समझे और

---

* इस संबंध में हम पाठकों से लंडन के न्यूस्टेट्समेन के १ अप्रैल १९१६ वाले अंक में "यदि जर्मन अंगरेजों पर विजय प्राप्त कर लें" शीर्षक उत्तम लेख पढ़ने की सिफारिश करेंगे। उसमें जर्मनों के स्थान पर अंगरेजों और अंगरेजों के स्थान पर भारतवासियों को मान लेने से ही भारतीय राजनीतिज्ञों की स्थिति का अच्छा दिग्दर्शन हो जायगा।
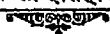
इस बात का अनुभव करे कि पराधीन होने में कितना अपमान और कितनी लज्जा होती है। इस भावना से ही वह बिलकुल वंचित है। उसमें अपने को उस स्थिति में समझने की शक्ति ही नहीं है। एक अंगरेज़ क्यों नहीं यह देख सकता कि विदेश जानेवाले किसी भारतीय को लज्जावश अपना सिर झुकाना पड़ता है?

भारत में अंगरेज़ी शासन से जो उपकार—यथा, शान्ति और व्यवस्था की स्थापना, रेल, नहर, शिक्षा, वाणिज्य व्यापार की उन्नति, निष्पक्ष न्याय, व्यवसाय की वृद्धि, डाक और तार की सुविधा, इत्यादि—हुआ, इन सबका वर्णन तो अंगरेज़ी राजनीतिज्ञ, शासक और पत्र सम्पादक आदि खूब करते हैं। पर वे यह विचार ही नहीं कर सकते कि क्यों भारतीय अंगरेज़ों से अपना पिंड छुड़ाना चाहते हैं। क्षण भर के लिए यह मान लिया जाय कि अंगरेज़ों ने भारतवासियों के साथ बड़े बड़े उपकार किये हैं, उनको सभ्य बनाया है, अन्धकार से निकालकर प्रकाश में ला रखा है, अपनी भाषा तथा संस्थाएँ दी हैं, उनके लिए सरस्वती का भंडार खोल दिया है, और आन्तरिक तथा बाह्य बाधाओं से रक्षित किया है; उनको अचल सुख और ऐश्वर्य का मार्ग दिखलाया है, इत्यादि, इत्यादि; पर राजनीतिक बन्धन या पराधीनता के द्वारा उनके मनुष्यत्व में जो न्यूनता हुई है, उसकी पूर्त्ति क्या ये सब बातें कर सकती हैं? बेड़ियाँ फिर भी बेड़ियाँ ही हैं, चाहे वे सोने की ही क्यों न हों। क्या संसार भर की संपदा और स्वतन्त्रता में कभी तुलना हो सकती है? यदि किसी को अपनी आत्मा के बलिदान पर समस्त संसार का साम्राज्य मिले तो उससे क्या? जिस प्रकार की एक दास की आत्मा अपनी नहीं होती, उसी

प्रकार एक पराधीन प्रजा की आत्मा भी अपनी नहीं होती। पराधीन प्रजा और दास का शरीर तक अपना नहीं होता।

एक उच्चकुल के बंगाली वकील भारतीय नेता ने, जो इस समय कलकत्ते के हाईकोर्ट के जज हैं, अपने जज होने के पूर्व बंगाल की एक सभा में सभापति की हैसियत से कहा था "पराधीन प्रजा की कोई अपनी राजनीति ही नहीं हो सकती। राजनीति रहित जनता की आत्मा नहीं हो सकती। आत्मा रहित मनुष्य पशुवत् है। आत्मा रहित प्रजा संज्ञा और बुद्धि-हीन पशु-समूह के सदृश है।" बस ऐसे ही आजकल के भारतवासी हैं। इसके उत्तर में अब यह कहना कि वे अनादि काल से ऐसे ही हैं, वे कभी स्वाधीन नहीं थे, उन्होंने कभी इस बात की परवाह न की कि हमारा शासक कौन है, वे कभी देश भक्त न थे, अथवा देश भक्ति और जाति-प्रेम पश्चिमी लोगों के संसर्ग से ही अब उनके हृदय में उपजा है इत्यादि सब मिथ्या लांछन हैं और ऐसी बातें कहना अपनी तुच्छ हृदयता प्रकट करना है। निस्संदेह और स्थानों की भाँति यहाँ भी कुछ लोग ऐसे हैं जो संपत्तिशाली, ऐश्वर्यवान्, कुलीन उपाधियों से अलंकृत और बड़े नामवाले हैं जो इस दुर्दशा में भी सुखी और संतुष्ट से प्रतीत होते हैं। उनके लिए कष्टों से रक्षा, विलास की स्वतंत्रता, आमोद-प्रमोद पूर्ण और व्यवसाय रहित, शिथिल, पराधीन तथा विषयी जीवन के सुख ही सब कुछ हैं। थोड़ा सा परिवर्तन भी उनके इन सुखों को मिटा देगा और शायद उनको तथा उनकी संतानों तक को नष्ट कर देगा। इस समय जो उन्हें कुछ भी काम या परिश्रम नहीं करना पड़ता। पर थोड़े से भी राजनीतिक परिवर्त्तन से उनके इन सुखों का लोप हो जायगा। अँगरेज़ी शासन ने न केवल उनकी

जान और माल को सुरक्षित रखने की ही जिम्मेदारी ली है बल्कि इस बात की भी जिम्मेदारी ले ली है कि ऐसे लोगों को सदा अपने अनुयायियों और प्रजा के अज्ञान, अन्धविश्वास, और मानसिक तथा नैतिक दासत्व से लाभ उठाकर सुख-पूर्वक रहने और आनन्द-मङ्गल करने का अधिकार है। इस प्रकार के कुछ नवाब और महाराज भारत में विराजते हैं। उनमें से बहुतों को यदि अँगरेज़ों की छाया उनके ऊपर न होती, तो अपने जीवन-निर्वाह के लिए पत्थर तोड़ना और सड़कें कूटना पड़ता। उनके महलों में अनेक ऐसी स्त्रियाँ हैं जो दीन और निर्दोष होने पर भी आजीवन कैदियों का सा जीवन व्यतीत करती हैं; जो सदा वन्ध्या रहकर बहुत बुरी तरह से अपना जीवन व्यतीत करती हैं। उनके यहाँ सदा बढ़िया से बढ़िया शराबों का ढेर लगा रहता है। उनके अस्त-बलों में घुड़दौड़ आदि के बढ़िया से बढ़िया घोड़े होते हैं। उनके कमरे सोने और चाँदी के कामों से लदे हुए रेशमी और मखमली बिछौनों और गद्दों आदि से सुसज्जित होते हैं। उनके दस्तरखानों पर नित्य एक से एक स्वादिष्ट, मधुर और उत्तमोत्तम भोज्य पदार्थ चुने जाते हैं; और वे सदा स्पेशल गाड़ियों और शानदार सैलूनों में यात्रा करते हैं। यदि वे चाहें तो नित्य एक नई स्त्री और नित्य एक नई शराब पा सकते हैं। पर उनका यह सुख, यह वैभव, यह शान तभी तक है, जब तक वर्त्तमान शासन-प्रणाली बनी है। बस उनके लिए यही जीवन है। वे नहीं जानते कि मान और प्रतिष्ठा किसे कहते हैं। जीवन-संग्राम, कर्त्तव्य, राजनीतिक परिवर्त्तन इत्यादि सब उनके लिए उनकी प्रिय वस्तुओं के विनाशक हैं। उनके लिए ये बातें जीते ही मृत्युवत् हैं। हाँ, यह सत्य हो सकता है कि

ये लोग राजनीतिक स्वतन्त्रता, स्वाधीनता, देशभक्ति, आत्म-निर्भरता की परवाह नहीं करते। बस उनके लिए तो यही जीवन सर्वोत्तम है। वे राजनीति तथा देशभक्ति के झगड़ों में पड़ना नही चाहते। ऐसे मनुष्यों की संख्या अधिक नही है। कुछ राजा लोग प्रकाश रूप में चाहे कुछ न कहं, पर हृदय से इस स्थिति को अपमानजनक समझते हैं।

उदयपुर के महाराणा चाहे अपना राज्य खो बैठने के डर से अपनी स्वाधीनता प्रतिपादित न कर सकं; पर वे भी इंग्लैण्डेश्वर और भारत के विदेशी सम्राट् के राज्यारोहण के जलूस में किसी कर्ज़न के पीछे चलने को राज़ी न होंगे।

बड़ौदा के गायकवाड़ यद्यपि अँगरेज़ी जल और स्थल सेना के सामने कुछ भी न हों, तथापि वह भी अपने अतुलनीय मान के समय इंग्लैण्डेश्वर के प्रति विनीत अभिवादन करना भूल सकते हैं। ऐसे या इससे कुछ कम कुलीन और आदरणीय पुरुष एक लार्ड कर्ज़न के साथ नहीं रह सकते। उनके अपने और अधिकतर देश के मान के लिए कर्ज़न जैसे वाइस-राय का होना हितकर है। सबसे बढ़कर यही एक बात है जो उनको इस बात का स्मरण दिलाती है कि हम कितने अधिक गिरे हुए और दीन दशा में हैं।

उस समय कैसा मज़ेदार दृश्य होता है जब एक कर्ज़न किसी देशी राजा को उसके विशेष अधिकारों को कम करने की, या उनकी स्वतन्त्रता को परिमित करने की धमकी देता है अथवा उसके स्वत्वों का उल्लंघन करता है। उस समय वह कैसा मन ही मन नाक भौं सिकोड़ते, झुँझलाते और क्रोध करते हैं। बस उसी समय उनके हृदय में लज्जा का आविर्भाव होता है और उनके हृदय में जो कुछ लेशमात्र भी स्वाभिमान
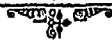
और सम्मान बचा रहता है, उस पर प्रभाव डालता है। किन्तु निन्दनीय, शिथिल और लज्जाजनक जीवन व्यतीत करनेवालों के हृदय पर जूँ भी नहीं रेंगती और वे उसी अवस्था में मग्न रहते हैं; चाहे उनका राज्य और मनुष्यत्व भी क्यों न चला जाय। किसी मृत शरीर या जड़वस्तु में विद्युत्-प्रवाह के कारण कुछ शक्ति क्षणमात्र के लिए आ सकती है, किन्तु उसमें जीवन कदापि नहीं आ सकता।

सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करनेवालों की अपेक्षा जड़ नवाबों, राजाओं और महाराजों की संख्या बहुत ही कम है। यद्यपि वे समुद्र में एक बूंद के बराबर हैं, तथापि वे अपने आपको जनता की दृष्टि में रखने तथा इंग्लैंण्ड और भारतवर्ष के समाचार पत्रों और सभा समितियों में अपनी प्रशंसा करवाने में समर्थ हैं। अँगरेज़ों का स्वार्थ और हित कुछ इसी में है कि वे ऐसे ऐसे लोगों को आगे रखें और उनके और प्रभु-प्रेम तथा साम्राज्य के प्रति राजभक्ति दिखलाकर उनकी महत्ता और बड़प्पन को बढ़ावें।

भारतवर्ष के रईसों में ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम है, जिनका सच्चा आदर देश का साधारण शिक्षित समाज अथवा उनकी अपनी ही प्रजा और आश्रित लोग करते हों। हाँ, कुछ ऐसे भी हैं जिन पर यह सिद्धांत नहीं घटित होता। तथापि बहुत से राजा तो अपने राज्य में केवल मूर्त्तिस्वरूप हैं। उनकी शासन-प्रणाली अँगरेज़ रेजिडेण्ट या प्रतिनिधि (Political agent) के अनुचरों अथवा ऐसे मनुष्यों के आदेश के अनुसार होती है जो यद्यपि उनके अनुचर नहीं हैं तथापि उनकी अप्रसन्नता से डरते हैं।

कुछ राज्यों में रेज़िडेण्ट प्रत्येक कार्य्य में हस्तक्षेप करता है

और राज्य-प्रबन्ध के सभी मामले प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसी के हाथों से तै होते हैं। कुछ राज्यों में वह केवल दूर से सब कुछ देखा करता है और प्रणाली का स्वरूप मात्र निश्चित कर देता है। ऐसे देशी राजा बहुत ही थोड़े हैं जो वास्तव में दृढ़-चित्त, शक्तिमान और अपनी स्वाधीनता रख सकने में समर्थ हों। सबसे अधिक शिक्षित और स्वाधीन राजा को भी अपने कार्य्य में रेजिडेएट और भारत सरकार की इच्छा के अनुसार चलना पड़ता है।

राजाओं की राजभक्ति।

यदि इससे यह परिणाम निकाला जाय (जैसे कि कुछ लोग निकालते हैं) कि समस्त राजा लोग अँगरेजी साम्राज्य के सच्चे भक्त हैं और उनके राजभक्ति सूचक कार्य्य उनके सच्चे हृदय और इच्छा से ही होते हैं तो यह युक्ति संगत न होगा। उनमें से कुछ तो सच्चे आदर के भाव से रहित हैं अथवा चिरकाल से अधीन रहने या दुश्चरित्र जीवन व्यतीत करने के कारण उससे वंचित हो गये हैं। यदि अकेले आनन्द लूटने के लिए छोड़ दिये जायँ तो वे परम संतुष्ट हैं। इसके सिवा कुछ राजा ऐसे भी हैं जो ब्रिटिश राज्यभार के वहन से बचने के लिए प्रसन्नता से तैयार हैं, यदि कोई उनको ऐसी रीति बता दे जिससे वे सफल हो जायँ। वे इसके लिए साहस करने को तैयार नहीं हैं। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि राष्ट्रीय दल उनकी सहायता और सहानुभूति पर आश्रित नहीं है। चाहे उनमें से कुछ राजा उपद्रवी दल के साथ कदाचित् सहानुभूति रखते हों, और उनकी सफलता पर प्रसन्न होते हों; परन्तु किसी रूप में उनकी सहायता करने का साहस

नहीं करते। कुछ लोग प्रकट रूप में उदार दल के साथ सहानुभूति रखते हैं किन्तु वे उसको आर्थिक या अन्य किसी प्रकार की सहायता नहीं दे सकते, क्योंकि यदि वे उनको किसी प्रकार की सहायता दें तो फिर सहज में यह कहा जा सकेगा कि वे ब्रिटिश साम्राज्य के साथ मित्र-भाव नहीं रखते; और उस दशा में साम्राज्य के साथ उनका बिगाड़ हो जायगा।

रईस, धनवान, महाजन, बंगाल के जमींदार और अवध के ताल्लुकेदार सभी पूर्णतया अँगरेज़ कर्मचारियों के चंगुल में हैं। इन कर्मचारियों की प्रसन्नता उनके लिए अत्यंत हितकर होती है। उनका विरोध और अप्रसन्नता इन लोगों की बहुत अधिक आर्थिक हानि कर सकती है। अँगरेज़ी कलेक्टरों और मजिस्ट्रेटों का उनपर पूर्ण अधिकार होता है। समय पड़ने पर वे अपनी इच्छा और आत्मा के विरुद्ध कार्य्य करके भी उनको प्रसन्न करना चाहेंगे; पर कोई ऐसा कार्य्य न करेंगे जिससे किसी को इस बात का लेशमात्र भी सन्देह हो कि वे स्वतन्त्र होना चाहते हैं अथवा जिससे उनकी स्वाधीन वृत्ति प्रकट होती हो। तथापि कुछ लोग राजनीतिक कार्य्यकर्त्ताओं को कभी कभी आर्थिक सहायता देते हैं। ऐसे लोगों का असर भारतीय राजनीति पर कुछ भी नहीं पड़ता और न उनकी बातों अथवा कार्य्यों के संबंध में यही कहा जा सकता है कि इनसे भारत के किसी गण्य और विशिष्ट वर्ग के भावों का परिचय मिलता है।

संसार में स्वतंत्रता के इतिहास में धनवान् और शक्तिमान् पुरुष कहीं भी विद्रोही तथा राजनीतिक आन्दोलन में अग्रसर नहीं हुए हैं। उनके हितों का ऐसे परिवर्त्तनों से भारी विरोध है। कभी कभी उस श्रेणी में से कोई उत्साही साहसी अथवा

वीर पुरुष खड़ा हो जाता है, अपना राजवंश स्थापित करने की आशा में अथवा इतिहास में अपना नाम अंकित करने के लिए उस क्रान्तिपूर्ण आन्दोलन में आकर सम्मिलित हो जाता है और उसका नेता बन बैठता है। कभी कोई धनवान् कुछ मूल सिद्धान्तों को मान कर और उन पर विश्वास रख कर देश भक्त हो जाता है, देश भक्तों के दल में मिल कर अपनी मान-मर्य्यादा खो बैठता है। किन्तु ऐसे उदाहरण सैकड़ों हज़ारों में एक ही दो होते हैं।

मध्यम श्रेणी के लोगों की राजनीतिक स्वतंत्रता की इच्छा।

राजनीतिक स्वाधीनता की आकांक्षा, अधीन जाति तथा राजनीतिक दृष्टि से अछूत हो कर रहने से उत्पन्न लज्जा और ग्लानि आदि बातें अधिकतर मध्यम श्रेणी के शिक्षित लोगों ही में पाई जाती हैं। राजनीतिक स्वाधीनता के आन्दोलन में साधारण जनता से पूर्ण उत्साह के साथ योग देने की आशा नहीं की जा सकती। उनकी अनभिज्ञता, अशिक्षा और सबसे बढ़ कर अत्यंत साधारण जीवन-निर्वाह के हेतु घोरतम परिश्रम उनको ऐसे प्रश्नों पर विचार करने और उनके लिए समय देने से रोकते हैं। उनका मन और समय पेट पालने की चिन्ता, बीमारी, व्यथा और दुःख आदि में ही लगा रहता है। उनको प्रसन्न करना बहुत ही सहज है। थोड़ी दया, उपकार या अनुग्रह ही उनको खुश कर देता है। वे प्रारंभिक कार्य्यक्रम से ही घबरा जाते हैं। यह बात योरप और अमेरिका सरीखे देशों पर भी घटती है जहाँ सभी को साधारण स्कूली शिक्षा मिलती है और जहाँ एक शताब्दी या इससे भी अधिक समय से लोग विचारों में विशेषतर कुशल होते रहे हैं। साधारण जनता को

शासक या उनसे संबंध रखनेवाली संस्थाएँ आसानी से भुलावा दे सकती हैं। हर देश में मध्यम श्रेणी के पढ़े-लिखे लोग ही राजनीतिक स्वाधीनता और उन्नति के आन्दोलनों में अग्रसर होते हैं। ऐसे लोगों का अटल विश्वास, उत्साह, कष्ट सहिष्णुता, सत्य और सिद्धांत के लिए प्राणोत्सर्ग करने की तत्परता और साथ ही साथ जनता पर उनका प्रभाव ही स्वाधीनता के आन्दोलन का भविष्य निश्चित करता है ऐसे ही लोग स्वतंत्रता का आन्दोलन सफल करते हैं।

इस प्रकार का आन्दोलन कभी नष्ट नहीं होता। "एक बेर उठाया हुआ स्वतंत्रता का युद्ध पीढ़ियों तक चलता रहता है।" यह कथन आज भी उतना ही ठीक है जितना पहले कभी था। यह आन्दोलन शिथिल पड़ सकता है, उसकी सिद्धि में विलम्ब या व्यतिक्रम हो सकता है अथवा पक्ष-समर्थकों की सुबुद्धि या कुबुद्धि तथा तत्परता का उस पर प्रभाव पड़ सकता है। जनता के ऊपर उनका प्रभाव घट बढ़ सकता है और उसके विरोधियों की बुद्धि, कुटिल नीति और सूक्ष्म-दृष्टि का विपरीत प्रभाव भी पड़ सकता है पर वह कभी नष्ट नहीं हो सकता—बिना सफलता के उसका अन्त हो ही नहीं सकता। संसार के समस्त वर्धमान आन्दोलनों को भाग्याक्रम, विकास की अवस्थाएँ, प्रतिकार, पराजय और परिवृत्ति आदि का समय देखना पड़ता है। शासकवर्ग सदा आरम्भ में ऐसे आन्दोलनों को उपेक्षा की दृष्टि से ही देखा करता है, फिर उपहास करता है और उसके पीछे दमन का प्रयोग करता है। पर उनके ये सभी प्रयत्न निष्फल होते हैं, किसी से काम नहीं निकलता। प्राणोत्सर्ग करनेवाले देश हितैषियों का रुधिर ही स्वतंत्रता का कोमल वृक्ष सींचता है।

फाँसी देनेवाले का रस्सा, जल्लाद की तलवार, सिपाही की गोली एक प्राणी का जीवन तो लेती है, पर उसकी जगह एकता पूर्ण जीवन की प्रखर और उत्कट इच्छा का संचार हो जाता है। प्रजा पीड़क निष्ठुर शासक, सदा निर्वासन देशान्तर वास, कारागार वास, दारुण वेदना, सर्वस्वहरण आदि शस्त्रों से स्वतंत्रता का बध और उसके प्रवर्त्तकों का मूलोच्छेद करने का यथा शक्ति प्रयत्न करता है, पर आज तक उसको कहीं कोई सफलता नहीं हो सकी है। लोगों को कुछ अधिकार देकर शान्त कर देना कभी कभी दमन से अधिक लाभदायक होता है। पर यदि ऐसे अधिकार देर से अथवा प्रजा के विवश करने पर दिये जायँ तो उनका देना प्रायः न देने से भी बुरा प्रमाणित होता है। भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन इनमें से कुछ कुछ अवस्थाओं को तो पार कर चुका है और अब शेष को भुगत रहा है। हम समझते हैं कि यदि हम उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि का कुछ वर्णन न करें और अब तक की उसकी सफलता और विफलता का सिंहावलोकन करें तो यह अवश्य ही कुछ लाभदायक तथा हित कर होगा।*

—:*:—

* यह ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकरण में जो दोष बतलाये गये हैं, वे उस शासन-पद्धति के ही दोष हैं जो जान स्टुअर्टमिल के कथनानुसार अस्वाभाविक है और जिसकी अस्वाभाविकता को बहुत से निष्पक्ष अँगरेजों ने भी माना है। यहाँ तक कि सन् १८१५ में विल्सन नामक प्रसिद्ध अँगरेज इतिहास वेत्ता ने भी अपने ब्रिटिश भारत के स्मरणीय इतिहास के अन्तिम प्रकरण में यह बात मानी है कि भारत की शासन-प्रणाली बिलकुल अस्वाभाविक है।

दूसरा प्रकरण।

सन् १७५७ से लेकर सन् १८५७ तक का भारत।

भारत के छठे मुग़ल सम्राट् औरंगज़ेब की मृत्यु सन् १७०७ में हुई थी। उसकी मृत्यु के पचास वर्ष के अन्दर भारत में मुग़ल साम्राज्य अपनी अन्तिम दशा तक पहुँच चुका था। उसके कट्टरपन, धर्मोन्माद और अविश्वासी स्वभाव के कारण जो बीज बोये गये थे, वे अब पक कर तैयार हो रहे थे और उसके उत्तराधिकारियों को कलह, विद्रोह, राजद्रोह और अराजकता रूपी फल देने लगे थे। उत्तर और दक्षिण में मुग़ल साम्राज्य का मूलच्छेद कर देने की धमकी देनेवाली जातियाँ पैदा हो गई थीं। सिक्खों के गुरु तेगबहादुर दिल्ली में सुलह का संदेशा लेकर गये और वहाँ छल से उनका वध किया गया था। स्वधर्म के लिए यह प्राणोत्सर्ग उनके अनुयायियों के हृदय में चुभ सा गया और उनके पुत्र गुरु गोविन्दसिंह पंचनद प्रदेश में मुग़ल राज्य का मूलोच्छेद करने के लिए सेना इत्यादि एकत्र करने लग गये। दक्षिण में शिवाजी के छत्र और पताका के नीचे दक्षिण की

लड़ाई करनेवाली समस्त सेनाएँ आ आकर एकत्र होने लगीं। पंजाब में सिक्ख और दक्षिण में मरहठे टूटते हुए मुग़ल-साम्राज्य को कुछ कुछ नष्ट करने में सफल भी हो चुके थे। हैदराबाद के निज़ाम और मैसूर के नवाब ने अपनी स्वाधीनता घोषित कर दी थी और वे मरहठों से दक्षिण के आधिपत्य के लिए लड़ झगड़ रहे थे। उधर बंगाल और अवध के नवाबों में दिल्ली के बादशाह के प्रति नाममात्र की राजनिष्ठा रह गई थी। मध्यभारत का अधिकतर अंश मरहठों के अधीन हो गया था।

भारत में अँगरेज़ों और फ्रान्सीसियों की मुठभेड़।

भारत का राजनीतिक भाग्य अभी अधर में ही लटक रहा था कि एक नवीन शक्ति इस अस्थिर अवस्था से लाभ उठाने के लिए उठ खड़ी हुई। अँगरेज़ और फ्रान्सीसी अलग अलग पक्ष लेकर मैदान में उतरे और अपने अपने भाग्य की परीक्षा करने लगे। वे सबसे अधिक धन देनेवाले को सहायता दिया करते थे और अपने अपने स्वामियों के भले के लिए जितनी बार चाहते उतनी बार अपने सहयोगियों में युद्ध के अंत में या कभी कभी मध्य में भी अदल बदल कर लेते थे। सन् १७५७ में अँगरेज़ों को पहली उल्लेखनीय सैनिक विजय पलासी की लड़ाई में प्राप्त हुई थी। वस्तुतः इसी से भारत के आधिपत्य का सूत्र उनको मिला था। सन् १७५७से १८५७ वाली शताब्दी सैनिक तथा कुटिलनीति के झगड़ों से पूर्ण थी। उन दिनों साम्राज्य संस्थापन और धन संचय ही उनका एक मात्र उद्देश्य था।

भारत में ब्रिटिश राज्य किस प्रकार स्थापित हुआ।

हिन्दू और मुसलमान, राष्ट्र और राज्य, जाट और राजपूत, मरहठे और जाट तथा राजपूत, रुहेले और बुंदेले, बुंदेले और पठान इत्यादि परस्पर खूब लड़ाये गये। संधियाँ की जातीं और विना किसी कारण के तोड़ दी जातीं। पक्ष ग्रहण किये जाते और छोड़ दिये जाते, और फिर विना ईमानदारी या सत्य का विचार किये ही बदल लिए जाते थे। राजसिंहासन खरीदे जाते और सबसे बड़ी बोली बोलनेवाले के हाथ बेच दिये जाते। सैनिक सहायता खरीदी जाती और वाणिज्य वस्तु की भांति बेच दी जाती। सेवक धोखा देकर अपने स्वामियों को और सैनिक अपने झंडे को विना यह विचारे कि इसका दण्ड क्या होगा, परित्याग करने के लिए उत्तेजित किये जाते थे। राज्यों को परस्पर लड़ाने और कष्ट में डालने के लिए बहाने और मौके ढूँढ़े जाते थे। उन दिनों राष्ट्रीय, व्यावहारिक, धार्मिक तथा नैतिक सभी प्रकार की प्रणालियों और नियमों का उल्लंघन किया जाता था। नाबालिगों और विधवाओं का कुछ ख्याल न किया जाता, युवक और वृद्ध दोनों समान समझे जाते। बस लूटना, डाका मारना और एक साम्राज्य स्थापित करना ही एक मात्र उद्देश्य था। उनका प्रत्येक कार्य्य केवल इसीलिए होता था।

Mill's and Wilsons History of British India, Burk's Impeachment of Warren Hastings, Toren's Our Empire in Asia, Wilsons Sword and Ledger, Bell's Annexation of Punjab (मिल और विल्सन लिखित ब्रिटिश भारत का इतिहास, बर्क का वारनहेस्टिंग्स

पर दोषारोपण, टारेन्स लिखित एशिया में हमारा राज्य, विल्सन का खोई और लेजर और बेल का पंजाब पर अधिकार) आदि पुस्तकें पढ़ने से ही यह जाना जा सकता है कि जो कुछ ऊपर लिखा गया है, वह अक्षर अक्षर सत्य है।

ब्रिटिश भारत के संघटन की प्रणाली।

सभी जातियाँ (आर्थिक, व्यवसायिक, धार्मिक और शिक्षा संबंधी) केवल एक ही सिद्धांत अर्थात् ब्रिटिश राज्य के संस्थापन और संघटन तथा ईस्ट इंडिया कंपनी के आर्थिक लाभ को लेकर सोची और बनाई जाती थी। यदि कोई उन संधि-पत्रों को एकत्र करे, जिन्हें अँगरेज़ों ने भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिए नष्ट किया था अथवा जिनकी उपेक्षा की थी तो एक अच्छा खासा संदूक भर जायगा। इस-काम के लिए केवल वेलेस्ली और डेल्हौसी के राज्य-प्रबन्ध से ही काफी सामग्री मिल जायगी। इन एक सौ वर्षों में यहाँ जो जो अनर्थ और उत्पात हुए उनकी तुलना करने के लिए भारत के इतिहास में और कुछ मिल ही नहीं सकता। यह शताब्दी निरंतर और जान-बूझ कर की हुई ऐसी वैज्ञानिक लूटपाट से पूर्ण है जिसके लिए धर्म, न्याय, मनुष्यत्व और नीति के नियमों को ताक पर रख दिया गया था और सदा केवल स्वार्थ-साधन पर ही ध्यान रखा गया था। यह कार्य किसी व्यक्ति का किया हुआ नहीं था बल्कि कुछ भले लोगों को छोड़ कर ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा भारत में शासन करने के लिए भेजे हुए समस्त प्रतिनिधियों की ही यह करतूत थी। भारत में राज्य करने के हेतु इंग्लैण्ड से भेजे हुए भिन्न भिन्न सभी शासकों की प्रणालियाँ और कार्य प्रायः एक समान ही थे। उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं था।

ब्रिटिश जनता इन बातों से अनभिज्ञ थी।

यह सत्य है कि ब्रिटिश जनता को इस बात का ख्याल भी नहीं था कि भारत में क्या हो रहा है। उस समय इस विस्तृत देश में अँगरेज़ कर्मचारी जो कुछ किया करते थे, उससे ग्रेट ब्रिटेन की साधारण जनता उतनी ही अनभिज्ञ रहती थी जितनी कि इस समय है। जिस प्रकार कि आज उनके लिए इतना ही जानना काफ़ी है कि भारत में उनका एक साम्राज्य है उसी प्रकार उस समय उनके लिए केवल इतना ही जानना पर्याप्त था कि हमारे देशवासी साम्राज्य संगठित करते हैं, प्रदेशों को जीतते हैं और लाखों विदेशी लोगों को ब्रिटिश राज्य के अधीन कर रहे हैं। भारत से उनको धन, संपत्ति और ऐश्वर्य मिलता था। व्यक्ति विशेष खूब धनवान हो गये और उनसे क्रमशः समस्त ब्रिटिश जाति धनी हो गई। ईस्ट इंडिया कम्पनी के मुनाफ़ों और भारत में ब्रिटिश शासन के कारण अँगरेज़ शिल्पकारों और व्यापारियों को व्यवसाय में अतुलनीय लाभ हुआ जिसके कारण सारी अँगरेज़ जाति धनी हो गई। बस उसके लिए यही काफ़ी था।

जब कभी वे देशी समाचार पत्रों इत्यादि में अपनी असली नीयत प्रकाशित हो जाने से घबरा जाते; तब शीघ्र ही कुशल राजनीतिज्ञ ओजस्वी व्याख्यान देकर उनको वहीं शान्त कर देते, ऊँचा नीचा समझा देते, राजनीतिक कारणों से उनके लेखकों को क्षमा कर देते और बड़े बड़े सारगर्भित शब्दों में घोषणा कर देते कि अँगरेज़ों का सिद्धान्त सदा परोपकार ही रहा है और वे इसका पूर्ण रूप से प्रतिपालन करते रहते हैं। बर्क द्वारा वारेन हेस्टिंग्स पर जो दोषारोपण हुआ था, उससे

अँगरेज़ों के नेत्र अवश्य खुल जाते और उनको यह मालूम हो जाता कि हमारे भाई भारत में क्या कर रहे हैं। पर अन्त में उस प्रख्यात उच्च-अधिकारी के साफ छूट जाने से सब लोग शान्त हो गये। वारेन हेसिंटग्स ही सबसे अधम दोषी नहीं था। जो कुछ उस समय उसने किया था, वही अब भी प्रतिदिन हो रहा है। अंतर केवल मात्रा और प्रकार में है।

फिर भी हम ब्रिटिश जनता के गुणदोष का विचार करने के लिए तैयार नहीं हैं। प्रजासत्तात्मक राज्यों को दूसरे देशों और जनता के मामलों की जाँच पड़ताल करने का अवकाश ही नहीं मिलता। उनको अपनी ही बहुत सी झंझटें होती हैं। वे आर्थिक लाभों ही की ओर देखते हैं। वे यह देख कर कि लाखों मनुष्य हमारे अधीन हैं, अत्यंत प्रफुल्लित और प्रसन्न होते हैं।

वे अपने उन देशवासियों के कारण जो उनके नाम से भारत में राज्य प्रबंध करते हैं, अपना गौरव समझते हैं। उनको गुण-दोष का विवेचन करने की तो कुछ आवश्यकता ही नहीं है। जहाँ मनुष्य का कुछ स्वार्थ और लाभ होता है, वहाँ वह गुणदोष का विचार करने नहीं बैठता। विशेषतः जिन प्रणालियों से वह लाभ उठाता है उनके अन्याय और दोष वह कभी नहीं देखता। यह बात किसी एक जगह नहीं, सभी जगह हुआ करती है।

अब हम फिर अपने मतलब पर आते हैं। सन् १७५७ से १८५७ तक की अँगरेज़ों की भारत-विजय का इतिहास निरंतर राजनीतिक छल, विश्वासघात और असाधुता आदि से पूर्ण है। अँगरेज़ों की कुटिल नीतिकी भारी विजय थी। जिन अँगरेज़ों ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित किया था, सचमुच

उनकी प्रकृति ही साम्राज्य स्थापित करने के लिए परम उपयुक्त थी। अपना उद्देश्य सिद्ध करने के समय वे अपने उपायों और साधनों का कुछ भी ख्याल नहीं करते थे। सात्विक प्रकृति के लोग कभी साम्राज्य का निर्माण नहीं कर सकते। साम्राज्य केवल ऐसे ही लोगों के द्वारा स्थापित हो सकता है जो निःशंक, साहसी, उत्साही और समय का ठीक उपयोग करनेवाले हों तथा जो इस बात की परवाह न करते हों कि इस कार्य के सम्पादन में हमें अन्याय, कपट या विश्वासघात आदि करना पड़ेगा।

नेपोलियन, बिसमार्क, डिसराइली, रिशिल्यूज और मेकियावेल्ली जैसे लोग ही साम्राज्य की कल्पना कर सकते हैं। क्लाइव, हेस्टिंग्स, वेलसली तथा डलहौसी जैसे मनुष्य ही उसका निर्माण कर सकते हैं। बर्क, ग्लैडस्टन तथा मारले जैसे लोग यह काम नहीं कर सकते। हाँ, यह भले ही हो सकता है कि वे ऐसे साम्राज्य संस्थापकों के अनुचित कृत्यों को उपेक्षा की दृष्टि से देखकर छोड़ दें और कह दें कि चलो, जो हो गया, सो हो गया।

भारत पर सेना की सहायता से नहीं, बल्कि कूटनीति से विजय प्राप्त की गई थी।

अँगरेज़ों की भारत विजय किसी प्रकार से सैनिक विजय नहीं कही जा सकती। वे किसी को डरा धमका कर और किसी को आशा दिलाकर अपना काम निकालते थे। बिना भारतीयों के भौतिक तथा नैतिक सहायता के वे भारत को कभी जीत नहीं सकते थे। उनकी विजय का इतिहास आदि से अन्त तक कलंकपूर्ण है। पर मज़ा यह है कि जब किसी

को सफलता या विजय प्राप्त हो जाती है, तब फिर किसी के किये और कुछ हो ही नहीं सकता। आजकल के भारतवासी तो उन सब बातों को बिलकुल भूल ही गये हैं। यह सुनकर कि एक राष्ट्रीय दलवाला भारतीय भारत में कानून के द्वारा स्थापित गवर्नमेंट का उन्मूलन करने के अभियोग में दोषी ठहराया जाता है, हँसी आ जाती है। बिना यह पूछे नहीं रहा जाता कि भारत में यह अँगरेज़ी राज्य किस कानून के द्वारा स्थापित हुआ और वह कानून किसने बनाया ?

सन् १८५७ का विद्रोह ।

उन्नीसवीं शताब्दी के पहले राजनीतिक आन्दोलन, सैनिक विद्रोह का परिचय देने के लिए हम प्रसङ्गवश यहाँ दो एक बातें कह देना चाहते हैं। यह आन्दोलन राष्ट्रीय तथा राजनीतिक था। इसमें मूल कारण और सहायक शक्तियाँ अनेक थीं। इसका प्रमाण यही है कि उस समय हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता थी, विद्रोह के पहले उनका संगठन बहुत दृढ़ था, वे खूब जम कर लड़े थे और उस समय परस्पर बहुत ही कम विश्वासघात होता था।

पर विद्रोह विफल हुआ क्योंकि जनता को विद्रोह करनेवालों की विधायक योग्यता पर विश्वास न था। इसमें सन्देह नहीं कि सभी विद्रोही यही चाहते थे कि पहले अँगरेज़ों को देश से बाहर निकाल दिया जाय, और तब फिर जैसे हो, अपने घर का प्रबन्ध किया जाय। पर सर्वसाधारण यह मानने के लिए तैयार नहीं थे।

पिछली शताब्दी के लड़ाई-झगड़ों और उसके साथ नेहो वाली अव्यवस्था और अराजकता से जनता व्याकुल हो गई

थी और उसको डर था कि कहीं विद्रोहियों की विजय से फिर वही दृश्य न दिखलाई पड़े। समस्त भारतीय जनता, क्या श्रेष्ठ क्या अधम, अँगरेज़ों से घृणा करती थी। वह विद्रोहियों से सहानुभूति भी रखती थी किन्तु उनकी पूरी पूरी सहायता नहीं करती थी। उसका उन पर विश्वास न था। अँगरेज़ों की अपेक्षा राज घराने के लोगों, बड़े बड़े अमीरों और उमराओं के साथ, जनता और भी अधिक घृणा करती थी। उन सबको एकत्र करके एक झंडे के नीचे करनेवाला कोई नहीं था।

विद्रोह का दमन किस प्रकार हुआ।

यहाँ भी अँगरेज़ी कूटनीति ही थी जिसने अँगरेज़ों की स्थिति को सुधारा था। अँगरेज़ों ने अपनी सहायता के लिए पंजाब की नवजात सम्मानित सिक्ख जाति को अपनी छत्रछाया में एकत्र किया। सिक्ख लोग मुसलमानों के अत्याचार के कारण अत्यंत व्यथित तथा दुःखित हुए थे। वे अब मुसलमानी राज्य का पुनःस्थापन कदापि नहीं चाहते थे। वे मुसलमानों को तुर्क कह कर पुकारते थे और कहते थे कि तुर्कों को बहुत देख लिया। और अब उन्होंने अपना सारा नवार्जित पौरुष अँगरेज़ों ही की सहायता के लिए अर्पित कर दिया। उनसे कहा जाता और वे उस पर विश्वास भी करते थे कि यदि मुसलमानों का मूलोच्छेद हो जायगा तो गुरु तेग़बहादुर की हत्या और गुरु गोबिंदसिंह के कष्टों और उनकी सन्तान के घात आदि का बदला चुक जायगा। यह सरहिंद तथा वहाँ की अल्प करुलाज तक घटनाओं का स्मरण ही था जिससे सिक्ख लोग

भारत में मुसलमानी अधिपत्य के अंतिम अवसर का नाश करने को विवश हुए थे।

विद्रोह विफल तो हुआ किन्तु उसकी गति से यह प्रमाणित हो गया कि विद्रोहियों में अँगरेज़ों के प्रति कितनी अधिक घृणा थी। भारतीय स्वभावतः अत्यंत उदार हृदय होते हैं। वे एक च्यूँटी को तो जल्दी कष्ट देते ही नहीं, फिर भला मनुष्य की वात ही क्या। किन्तु कुछ लोग विद्रोह में अत्यंत क्रूरता और अत्याचार करने के दोषी थे। पर अँगरेज़ों ने भी विद्रोह में और उसके उपरांत भारतीयों से कसर निकालने में कुछ भी बाकी न रखा था। दोषी तथा निर्दोष दोनों एक साथ तोप के आगे रख कर उड़ा दिये गये थे। रास्ते में जाते हुए अँगरेज़ी सैनिक, बच्चों, औरतों और बुड्ढों को भी असह्य दारुण दुःख देते थे और कभी कभी उनके मुंडों तथा निर्जीव शरीरों को पेड़ों पर टाँग देते थे। दोनों ही पक्षों के लोग मानों क्रूरता करने में एक दूसरे से बढ़ जाना चाहते थे।*

विजेताओं ने विजितों के अत्याचारों आदि के घटना-स्थलों पर स्थायी स्मारक बनवा कर उनको सदा के लिए अमर कर दिया है। विजेता अँगरेज़ स्वयं अपने अत्याचार तो भूल ही गए थे साथ ही जिन लोगों के साथ अत्याचार हुए थे, उनके वंशज भी उन अत्याचारों को भूल गये तिस पर भी वे

---

* देखो Kaye and Malleson's History of the Mutiny भाग २, पृष्ठ १६७, २०३ और १७७; Holmes History of the Sepoy war, पृष्ठ ११४; Sir charles Ball's Indian Mutiny भाग १, पृष्ठ २५७ आदि, जिनमें अँगरेज़ सैनिकों की भीषण क्रूरताओं का हृदय-विदारक वर्णन भरा पड़ा है।

अत्याचार इतिहास के पृष्ठों में अंकित हैं। सन् १६१५ में अप्रैल की एक अँगरेज़ी पत्रिका में एफ० जी० ए० लिखित वर्णन के निम्नलिखित अंश से पता चलता है कि अंगरेज़ आगंतुक पर इन स्मारकों को देखने से क्या प्रभाव पड़ता है। लखनऊ और कानपुर के विद्रोह-स्मारकों और स्मृति-चिह्नों का वर्णन करते हुए लेखक कहता है—

"विद्रोह के स्मारक बिलकुल स्पष्ट हैं—वैसे ही जैसे कि वीरता और पौरुष के मंदिरों से आये हुए यात्रीगणों के हृदय में भाव पैदा करते हैं। अकथनीय वीरता को प्रकट करती हुई लखनऊ की क्षीण जीर्णता उन्मादपूर्ण भाव उत्पन्न करती है। प्रत्येक जर्जरित फाटक और शून्य कोठरी वीरता की धैर्य्य और तेजपूर्ण गाथा है और अवरोधित दुर्गरक्षकों के अंतिम परिमाण ने उस गाथा में ऐसा उपसंहार लगा दिया जिसने पुराने मनमुटाव को धो डाला था।

"कानपुर जानेवाले यात्रियों को इन क्षमाओं का विचार भी नहीं होता। न बोल सकनेवाले कूएँ के ऊपर बनी हुई परी की मूर्त्ति के एक ओर एक असभ्य दारुण अपराध सूचक लेख लिखा हुआ है। ऐतिहासिक कानपुर का वातावरण सदा वीभत्सता और विषाद से आच्छादित रहता है और इसका निर्मल होना असंभव है। इस विद्वेष को भुला देने में काल भी असमर्थ है। चाहे कोई यात्री उन सुंदर स्मारक वाटिकाओं में (जिसमें शायद कोई भी भारतवासी जाने नहीं पाता है) भ्रमण करे, चाहे चमकते हुए वृक्षों की ओर दृष्टि डाले या पीपल तथा वट वृक्षों की छाया में विश्राम ले, अथवा स्मारकवाले अद्भुत गिरिजाघर में टहल कर दीवारों पर लिखी हुई वीर-गति पानेवालों की लम्बी नामवली पढ़े, सब जगह उसकी

आत्मा विषादपूर्ण हो जायगी और उन लोगों के प्रति जिन्होंने हत्याएँ करके अँधेरे और भयानक गड्ढे में मृत तथा मृतप्राय लोगों को फेंका था, निरन्तर प्रतिहिंसा का भाव उत्पन्न करती रहेगी, यह स्मारक सिवाय घृणा और भय के भाव से पूर्ण तथा सुख और क्षमा-दान के भाव से हीन होने के अतिरिक्त कुछ नहीं है।"*

अँगरेज़ लोग भूले हुए हैं यदि वे यह समझते हैं कि विद्रोह के इतिहास और अँगरेज़ों के किये हुए अत्याचारों और क्रूरताओं का वर्णन पढ़ कर भारतवासियों के हृदय में भी ऐसे ही भाव नहीं उठते। अँगरेज़ लोग अपने भाव स्वतंत्रता से प्रकट कर सकते हैं; पर भारतीय ऐसा नहीं करने पाते और उनके भावों का दमन किया जाता है।

दोनों पक्षों के लिए यही हितकर होगा कि वे पारस्परिक विश्वास और सद्भावों से पिछली घटनाओं को भूल जायँ; और यह तभी संभव है जब इंग्लैण्ड भारत में विजेताओं की नीति पर चलना छोड़ दे और भारत से समानता, अकपट और न्याय का संबंध स्थापित करे। और यह तभी हो सकता है जब वह इसको एक अधीन तथा हस्तगत प्रदेश न समझे बल्कि साम्राज्य का एक अंग और हिस्सेदार माने।

---

* यह याद रखना चाहिए कि यह यात्री युरोपीय महायुद्ध के समय में आया था और ये उद्गार उस समय प्रकट किये गये थे, जिस समय भारतवासियों ने अँगरेजों की भीषण विपत्ति के समय उनके प्रति अपनी अनुपम राजभक्ति पूर्ण रूप से प्रकट कर दी थी।

तीसरा प्रकरण।

सन् १८५७ से १६०५ तक का भारत।

पहला खण्ड--सन् १८५७ से १८८५ तक।

विद्रोह दबा दिया गया। विद्रोहियों में से मुख्य मुख्य और साथ ही अनेक निर्दोष भी फाँसी देकर अथवा गोलियों से मार डाले गये। उनके बहुत से सङ्गी साथी क्षमा कर दिये गये क्योंकि कोई शासक विद्रोह में सम्मिलित होने वाले सभी आदमियों को गोली से अथवा फाँसी पर लटका कर नहीं मार सकता। इन मारे जाने वालों की संख्या अपरिमित थी। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य तो बच गया, पर ईस्ट इंडिया कम्पनी का अन्त हो गया। प्रकट रूप में लूट मार करने की प्रथा उठ गई। सम्राज्ञी विक्टोरिया ने भारत का शासन स्वयं अपने हाथ कर लिया था। सम्राज्ञी की घोषणा तथा कैनिंग की दया और मेल-मिलापवाली नीति ने देश में शान्ति कर दी थी।

बंगाली बाबू।

उस समय देश में केवल बंगाल, बम्बई और मद्रास ही ऐसे प्रान्त थे जहाँ आधुनिक शिक्षा का कुछ प्रचार हो चुका

अँगरेज़ीपन आ जाने पर भी राष्ट्रीय प्रवृत्ति वाला एक नया दल खड़ा हो गया। ब्रह्मसमाज के जन्मदाता राम मोहन राय आधुनिक भारतवर्ष के पहले राष्ट्र-निर्माता थे।

उत्तरीय भारत (उस समय का उत्तर पश्चिमी प्रदेश पंजाब, बिहार, मध्यभारत, राजपूताना और सिंध) अगरेज़ी जाननेवाले बंगालियों की सेवा-वृत्ति का क्षेत्र था। कुछ दिनों तक उसी क्षेत्र और सेवा वृत्ति ने इन राष्ट्रीय भावों को बढ़ने न दिया। कृतज्ञता और सन्तोष के भाव सर्वोपरि थे। बंगाली का प्रत्येक विभाग में होना आवश्यक था। न्यायालय, राजस्व विभाग, कमसरियेट डीपो, बन्दोबस्त तथा शिक्षा विभाग सब जगह का व्यावहारिक प्रबन्ध विशेषतः बंगालियों ही के हाथों में था। महकमे के प्रधान अधिकारी तो सब अगरेज़ ही होते थे, किन्तु उनके सहकारी अधिकतर बंगाली ही थे। अगरेजों का उनके बिना काम ही नहीं चल सकता था। वे देश की भाषा अथवा प्रजा के आचार-विचार से अनभिज्ञ थे। इस-लिए बंगालियों का होना अत्यन्त आवश्यक था। अगरेज़ी पढ़े हुए भारतवासियों के वंशज अगरेज़ी शिक्षा के प्रचार से प्रत्येक प्रान्त में बड़े बड़े पदों पर नियुक्त होने लगे। पुरानी चाल के पण्डित और मौलवी उदासीन हो गये और ये शिक्षित हिन्दू और मुसलमान सर्वत्र पूछे जाने लगे। अगरेज़ लोग नीति और प्रणाली निर्धारित करते और आज्ञा देते: और शिक्षित भारतवासी उसे कार्य्यरूप में परिणत करवाते और उन आज्ञाओं का पालन करते थे। वे अपने स्वामियों के विश्वासपात्र बन कर सुख भोगते और उनके दोषों का अनु-करण करते थे।

किन्तु उसमें सबसे बढ़ कर बात यह थी कि वे अगरेज़

स्वामियों की भाँति विचार भी करने लगे। अगरेज़ अपने समाचारपत्र पढ़ते थे; इसलिए इन्होंने भी अपने समाचारपत्र निकालना आरम्भ कर दिया। अगरेज़ क्लबों और गिरजाघरों में मिलते जुलते थे, इसलिए इन्होंने भी अपनी सभाएँ समाज और वाचनालय स्थापित कर दिये। कुछ समय तक तो अंगरेज़ी जानने वाले भारतवासी अपने स्वामियों का अनुकरण करने में ही अपना गौरव समझते थे। इन्होंने उनके वस्त्र-परिधान, सिगरेट पाइप तथा खानपान सबको अपना लिया। वे अगरेज़ी ढंग पर बने और सजे हुए घरों में निवास करते। भारतीय जीवन को घृणित मानते और अंगरेज़ों की नकल करने में गौरव समझते थे। प्रत्येक भारतीय वस्तु उनकी दृष्टि में कुत्सित हो गई थी। उनके लेखे भारतवासी असभ्य थे, उनका धर्म अन्धविश्वासों का समूह था। उनका रीति-रवाज आचार-व्यवहार सब बातें असभ्यतापूर्ण और गन्दी थीं, वे धर्मान्ध और संकुचित हृदय थे और यह नहीं जानते थे कि मनुष्य का जन्म सदा सब बातों में स्वतन्त्र रहने के लिए ही हुआ है। अंगरेज़ ही उनके लिए प्रत्येक वस्तु में फैशन स्थिर करते। यदि उनके स्वामी गिरजाघर जाकर बाइबिल पढ़ते तो वे भी वैसा ही करते। वे यदि स्वतन्त्र-चिन्तन करते तो ये इसमें भी पीछे न हटते। वे सब बातें अंगरेज़ों की ही तरह किया करते। पर उनकी आकांक्षाओं में एक विघ्न आ पड़ा। वे मदिरा पान और स्वतन्त्र-चिन्तन में तो अंगरेज़ों की समानता या नकल कर सके। कुछ लोगों ने अपने पुत्रों के लिए इसका प्रयत्न करना निश्चय किया और उनको विलायत भेजा, कुछ ने सिविल सर्विस और मेडिकल सर्विस की परीक्षा पास की और कुछ बैरिस्टर बने। पर अन्त में सब

को यही कटु अनुभव हुआ कि हम चाहे कितने ही योग्य, कुशल और ज्ञानवान क्यों न हों, पर हमारे लिए नौकरी के क्षेत्र में भी और उसके बाहर भी एक निश्चित सीमा है जिसके आगे हम किसी प्रकार बढ़ ही नहीं सकते। बस उन्नति के मार्ग की इस बाधा ने ही पहले पहल उनकी आँखें खोली थीं।

इसी बीच में कुछ विचारशील भारतवासी जिन्होंने अंगरेज़ी चाल को अपनाया न था, इस प्रवाह को चिन्तित भाव से देखा करते थे। वे उन शक्तियों को कार्य्य करते हुए देख रहे थे जो जातीयता को छिन्न भिन्न करके नष्ट कर रही थीं। उन्होंने देखा कि राष्ट्रीय मन्दिर क्रमशः जर्जरित हो रहा है। प्रत्येक वस्तु जिसे वे आदर और धर्म्म की दृष्टि से अमूल्य समझते थे, नाशक और घृणित समझी जाती थी और मिट्टी में मिलाई जा रही थी। उनकी सन्तानें उन झण्डों को, जिन्हें कितने ही पूर्वज आदर और प्रेम से पूजते थे, छोड़ रही थीं। वे यह सब देखकर दुःखित होते और खून के आँसू बहाते थे, पर वे कुछ कर नहीं सकते थे। वे उस भीषण प्रवाह के सामने असमर्थ थे। उन्होंने कह सुन कर लोगों को ठीक मार्ग पर लाना चाहा किन्तु वे सफल न हुए। जो बात उनकी पवित्र आकांक्षाओं की पूर्त्ति में सबसे अधिक घातक थी, वह यह थी कि पद और मान मर्यादा आदि के रूप में लोगों को अंगरेज़ी शिक्षा के जो फल प्राप्त होते थे, उन फलों का लोभ वे स्वयं ही संवरण न कर सकते थे। वे इन फलों को प्राप्त करना तो चाहते थे पर बिना काँटों के चाहते थे। वे शीघ्र ही इस बात को असम्भव समझ निराश हो गये और भवितव्यता पर ही सन्तुष्ट होकर चुपचाप बैठ गये। पर जो कुछ वे चाहते थे, वह आगे चलकर कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के

कारण आप से आप हो गया। उन परिस्थितियों का स्वरूप इस प्रकार था:—

(१) राष्ट्रीयता के नाश का विरोध करने वाली शक्तियाँ— अँगरेज़ों और ईसाई पादरियों द्वारा स्थापित स्कूलों और कालेजों में जो अँगरेज़ी शिक्षा दी जाती थी, उसने शिक्षित भारतवासी समुदाय के सम्मुख पश्चिमी विचारों और साहित्य के द्वार खोल दिये।

(२) स्कूलों और कालेजों के कुछ अँगरेज़ शिक्षकों और अध्यापकों ने जान बूझ कर या बिना जाने बूझे ही विद्यार्थियों के हृदय में स्वतन्त्रता और जातीयता के भाव उत्पन्न कर दिये।

(३) पादरी लोग भारतीय विचारों तथा धर्म पर आक्षेप किया करते थे, भारतीय विज्ञों को अपने धर्म और विचारों का सूक्ष्म तथा गम्भीर अध्ययन करने का अवकाश मिला।

(४) इसमें उन्हें योरपवासियों के एशिया सम्बन्धी विचारों की जाग्रति से बहुत सहायता मिली। योरोपीय विद्वानों के परिश्रम और एशिया के विचारों की प्रशंसा ने हिन्दुओं और मुसलमानों के हृदयों में नवीन उत्साह की अग्नि भड़का दी थी। बंगाल में राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ टैगोर, राजेन्द्रलाल मित्र, महाराष्ट्र में रानाडे, विष्णु पण्डित तथा और लोगों, उत्तरीय भारत में स्वामी दयानन्द और सर सैयद अहमद खाँ, मद्रास में मैडम ब्लेवत्स्की तथा अन्य थियोसफ़ी मतावलम्बियों आदि के लेखों ने एक नवीन जाग्रति उत्पन्न कर दी। इसके बाद श्रीमती एनीबेसण्ट तथा स्वामी विवेकानन्द के लेखों और व्याख्यानों ने और भी अधिक प्रोत्साहन दिया। यद्यपि यह विशेष कर धार्मिक और सामाजिक बातों से ही

सम्बन्ध रखता था तथापि उसका राष्ट्रीय स्वरूप बहुत ही स्पष्ट था।

राजनीतिक निराशाएँ।

इन बाधाओं में राजनीतिक निराशाओं की बाधाएँ भी आकर मिल गई। शिक्षित भारतवासियों की आकांक्षाओं में एक और विघ्न उपस्थित हुआ। अँगरेज़ लोग कुछ भारतवासियों की सिविल सर्विस की परीक्षाओं में सफलता देख कर भयभीत हुए और उन्हें इससे वंचित करने का उपाय सोचने लगे। एक अड़चन जो उन्होंने डाली वह यह थी कि परीक्षा के समय विद्यार्थी की अवस्था १६ वर्ष से लेकर २१ वर्ष से अधिक न होनी चाहिए। इतनी अल्प अवस्था में भारतवासियों के लिये विलायत जाना और परीक्षा में सम्मिलित होना प्रायः असम्भव ही था। इससे बङ्गाल में अशान्ति फैली और बाकी सारे देश ने बङ्गाल का अनुकरण किया। इसके बाद लार्ड लिटन का वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट और रूई के समुद्री कर के उठा देने से* लोगों में और भी अधिक असन्तोष फैल गया।

विलायत में शिक्षा पाये हुए लोगों को उस देश की राजनीतिक प्रणाली का अनुभव हुआ, बस उसी प्रणाली पर उन्होंने भी संविधान करना आरम्भ कर दिया। आधुनिक प्रणाली का राजनीतिक आन्दोलन भारतीय जीवन की एक वृत्ति सी हो गई तथा अँगरेज़ी शिक्षित प्रजा स्वतन्त्रता और स्वराज्य की चर्चा करने लगी।

इस प्रकार राष्ट्रीय जाग्रति की, जिसकी बहुत कुछ चर्चा इधर सुनाई पड़ती है, नींव पड़ गई। भारत में अँगरेज़ों के

---

* लंकाशायर के माल के हित के लिये।

शासन तथा शिक्षा-पद्धति, समाचार पत्र, कानून, न्यायालय, रेल, तार, डाकखानों और स्टीमरों आदि का इस जाग्रति से उतना ही सम्बन्ध है जितना देश, धर्म और जाति के प्रेम से था और जिसमें सन् १८५७ में विद्रोहियों के बुरी तरह हारने और भारतीय जनता के विदेशियों के सामाजिक तथा राजनीतिक आधिपत्य स्वीकृत करने से क्षणिक बाधा पड़ गई थी।

इस वार उन्हीं लोगों ने आन्दोलन उठाया जिन्होंने योरप से ही उत्तेजना ग्रहण की थी। अभी विद्रोह को हुए बीस वर्ष भी नहीं हुए थे कि प्रायः उसी समय और उसी स्थान में जहाँ कि लार्ड लिटन ने राजकीय दरबार किया था और इंग्लैण्ड की महारानी को भारत की सम्राज्ञी की उपाधि ग्रहण कर लेने की घोषणा की थी, भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति हुई। इस दरबार ने भारत के नरेन्द्रों को सहायक के पद से अधीन के पद पर कर दिया; पर साथ ही बिलकुल अनजान में और अधिकारियों की इच्छा के विरुद्ध यह सिद्धान्त प्रतिपादित कर दिया कि सम्राज्ञी की भारतीय प्रजा को भी उतने और वैसे ही अधिकार प्राप्त हैं जितने और जैसे अधिकार ब्रिटिश साम्राज्य के दूसरे नागरिकों को हैं। दरबार के प्रवर्तकों ने इस कार्य के भीतरी महत्त्व पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया था। हम कह सकते हैं कि इस दर्बार ने शिक्षित भारतवासियों के हृदय में साम्राज्य में उचित और विशिष्ट स्थान पाने के भावों का संचार कर दिया। लोगों का वह भाव स्पष्ट और दृढ़ हो गया। अब वे भारत सरकार के छोटे छोटे स्थान और पद पाकर सन्तुष्ट न होते थे। वे इस देश को अपना देश समझने लगे और कहने लगे कि भारत भारतवासियों के लिये ही

है। जिस भारत को वे पचास साठ वर्ष पहले घृणित समझते थे, जिसके विचारों और जीवन-पद्धति को वे असभ्य और पुराने ढंग की समझते थे, अपने जिस अतीतकाल को वे घृणित समझते थे, वे वास्तव में उतने घृणित और निन्दनीय न थे। बस इसी प्रकार के भावों ने लोगों में नवीन शक्ति का संचार कर दिया।

यह पिछला भाव ब्रह्मसमाज, थियोसॉफ़िकल सोसाइटी, संस्कृत साहित्य उद्धारक समाज, बंगीय साहित्य परिषद्, महाराष्ट्र सभा, आर्यसमाज, सनातनधर्म्म सभा तथा अन्य ऐसी सभी समितियों की कृपा का फल था। बंगाली तथा मराठे विद्वानों ने भारतीय इतिहास और बहुमूल्य प्रमाणपत्रों की खोज करके और अपनी भाषाओं में लेख लिखकर इन भावों के प्रचार में और भी अधिक सहायता पहुँचाई थी। थियोसॉफ़िकल सोसाइटी प्रत्येक हिन्दू संस्था को प्रामाणिक बतलाती, उसकी प्रशंसा करती और प्रत्येक आचार-व्यवहार को वैज्ञानिक रीति से उपयुक्त सिद्ध करती रही। वस्तुतः विज्ञ लोगों को यह भय होने लगा कि कहीं यह प्रवृत्ति दूसरी ओर तो नहीं जा रही है और हम लोग प्रतिघात की लहर में तो नहीं पड़े हैं।

लार्ड रिपन।

जिस समय लार्ड रिपन भारत के वाइसराय होकर आये थे उस समय भारत धार्मिक, तथा राजनीतिक उत्ताप की अवस्था में था। वे अत्यन्त प्रतिभाशाली और उदार पुरुष थे। यह उनका सौभाग्य ही था कि वे लार्ड लिटन जैसे लोक-अप्रिय वाइसराय के उत्तराधिकारी होकर आये थे। लार्ड लिटन

प्रख्यात अनुदार मतवादी थे और उनकी प्रवृत्ति साम्राज्य-विस्तार की ओर थी। उन्होंने डिसराइली के कहने से भारत के नरेन्द्रों को अयुक्त कुटिलता से ब्रिटिश साम्राज्य के साथियों के पद से गिराकर उसके अधीन कर दिया था। प्रेस सम्बन्धी कानून से देशी भाषा के समाचारपत्रों का मुंह वन्द कर दिया था तथा प्रमादवश भीषण अफ़गान युद्ध तथा अन्य प्रतिघातक कार्य किये थे। लार्ड लिटन के किये हुए अनेक कार्यों को मिटाकर ही लार्ड रिपन ने अपना शासन आरम्भ किया। उन्होंने वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट को रद्द करके जनता पर अपने उत्तम शासन का अच्छा असर डाला। उनके बहुत से कार्य विशेषकर विधायक ही थे। उन्होंने लोकल सेल्फ़ गवर्नमेण्ट प्रणाली का स्थापन करके भारत में प्रतिनिधि भूत संस्थाओं की नींव डाल दो। उन्होंने सरकारी नौकरी के कुछ पदों के लिए योग्यता की परीक्षा स्थापित की और इस प्रकार यह निश्चित कर दिया कि जो लोग योग्य हों, वे ही उन पदों पर नियुक्त किये जायँ; केवल रिआयत आदि के विचार से दूसरे अयोग्य व्यक्ति उन पदों पर न नियुक्त हो सकें। और अन्त में दण्ड-विधान प्रणाली में इतना परिवर्तन करना स्थिर किया कि न्यायालय में योरपवासी और भारतवासी दोनों समान दृष्टि से देखे जायँ।

इन सब बातों से ऐंग्लो इंडियन कर्मचारियों के हृदय में अत्यन्त क्रोध की ज्वाला भड़क उठी। उन्होंने इन सब सुधारों का घोर विरोध किया—उन्होंने भारत में लोकल सेल्फ़ गवर्नमेण्ट के नवीन उपचार की हँसी उड़ाई और कहा कि इससे ह्रास का आरम्भ ही समझना चाहिए। वे इन सुधारों को अविचारपूर्ण, अपरीक्षित तथा असाध्य कहते थे। वे कहते थे

कि यहाँ के निवासी स्वराज्य के योग्य नहीं हैं उनके धार्मिक तथा सामाजिक भेदभाव के रहते यहाँ स्वराज्य दुष्कर है। अधिकारी वर्ग भी सरकारी नौकरियों के लिए योग्यता की परीक्षा का प्रकाशतः विरोध करते थे। क्योंकि इससे 'बाबू' लोग सब जगह घुस जाते; और 'बाबू' को अब वे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। वे कहा करते थे कि 'बाबू' बहुत ही निकृष्ट होते हैं, वे अशुद्ध अँगरेज़ी लिखते हैं, स्वाधीनता और समानता की चर्चा करते हैं, आज्ञाकारिता तथा विनय के आवश्यक गुणों से हीन हैं, आदि। अब ज़िले के अधिकारियों की कुछ भी प्रतिष्ठा न रह गई क्योंकि भारतवासियों को बिना उसकी सहायता के ही ऊँची ऊँची सरकारी नौकरियाँ मिल सकती थीं। अब भला वे उसकी कृपा की आकांक्षा क्यों करने लगे? इस प्रकार लार्ड रिपन के कार्यों ने अँगरेज़ अधिकारियों की प्रतिष्ठा का नाश कर दिया। लार्ड रिपन के इलबर्ट बिल ने तो और भी बुरा किया क्योंकि इस बिल का उद्देश्य योरोपियनों और भारतवासियों को न्याय की दृष्टि में समान करना था तथा भारतीय न्यायाधीश को श्वेत चर्मवाले अँगरेज़ों के मुक़दमे कर सकने के योग्य बनाना था। वे सोचते, क्या एक काला आदमी हमारा न्याय करेगा? क्या वह हमें जेलख़ाने भेजेगा? क्या वह हमारे ऊपर आधिपत्य करेगा? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। इन अपमानकारक कानूनों के आगे सिर झुकाने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि भारत में ब्रिटिश राज्य का अन्त हो जाय। समस्त ऐंग्लो इंडियन जाति ने इन सुधारों का घोर विरोध किया। वे इस तरह लार्ड रिपन को बुरा-भला कहने लगे जिस तरह कभी पहले किसी वाइसराय को भारत में उसी के जाति भाइयों ने नहीं कहा था। वे

उनको अपमानसूचक नामों से पुकारते, उनके संपूर्ण शासन को दोषपूर्ण बतलाते और निर्धारित समय के पहले ही उनके पद से हटा लिए जाने का प्रस्ताव करते और यथाशक्ति इस बात का प्रयत्न करते थे कि वे समझ लें कि सब लोग हमसे घृणा करते हैं।

लार्ड रिपन की जितनी अप्रतिष्ठा ऐंग्लो इंडियनों में होती थी, उससे कहीं अधिक उनकी प्रतिष्ठा भारतवासी करते थे। सभाओं और समाचारपत्रों में सभी जगह उनके गुण गाये जाते थे। सारे देश में एक नया जोश फैल गया था। इसके पहले कभी इस देश में राजनीतिक विषयों में इतना उत्साह देखने में नहीं आया था। लार्ड रिपन को भारतवासी अपना राजनीतिक प्राणदाता और परित्राणकर्त्ता मानते, उन्हें कितने ही सम्मानपत्र देते, कितने ही स्थानों में लोग उनकी गाड़ी में से घोड़े खोल कर स्वयं गाड़ी खींचते, इत्यादि अनेक प्रकार से उनके प्रति अपना प्रेम और आदर दरसाते, जिसको देख देख कर योरोपियन लोग खूब ही कुढ़ा करते। वे समझते थे कि इन सब बातों से भारत में हमारी शक्ति को धक्का पहुँचेगा और हमारी नवाबी का अन्त हो जायगा। वे भारत को खो बैठने की शंका करते थे। पर भारतवासियों की दृष्टि में लार्ड रिपन ही पहले वाइसराय थे जो सन् १८५८ वाले महारानी विक्टोरिया की विख्यात घोषणा में (उस समय भारत के शासन की बागडोर सम्राज्ञी ने अपने हाथों में ले ली थी) दिये हुए वचनों और की हुई प्रतिज्ञाओं को फलीभूत करने में सदा तत्पर रहते थे। लार्ड रिपन भारतीय दण्ड-विधान में जो संशोधन करना चाहते थे और जिसके कारण घोर असन्तोष और क्रोध फैला था, वह संशोधन न हो सका और उसमें

उनकी हार हुई । पीछे से समझौता हुआ जिससे उस बिल का सिद्धान्त ही परित्यक्त कर दिया गया। पर फिर भी लार्ड रिपन ने भारतवासियों को जो आशाएँ दिलाई थीं और उनके हृदय में जो आकांक्षाएँ उत्पन्न की थीं, उन्हीं से मानों भारत के राजनीतिक जीवन का आरम्भ हुआ था। उनके शासन-काल के समाप्त हो जाने पर भारतवासियों ने वह काल और बढ़ाने का आन्दोलन किया, किन्तु वह सफल न हुआ, तथापि लोगों ने उनके चलते समय उनका ऐसा अभिनन्दन किया था जो आज तक भी उन पुराने भारतवासियों के कानों में गूँजता है, जो कलकत्ते, बम्बई, बनारस तथा अन्य स्थानों में उस अभिनन्दन में सम्मिलित थे।

लार्ड रिपन भारतवासियों के हृदयों में अमिट स्मृति चिह्न छोड़ गये थे। लार्ड हार्डिङ्ग ने लोक-प्रियता तो अधिक सम्पादित की थी, पर इसमें सन्देह ही है कि लोग उनको उतना ही मानते थे और उनका उतना ही अधिक आदर करते थे जितना वे लार्ड रिपन को मानते और उनका आदर करते थे।

लार्ड डफ़रिन ।

जिस समय लार्ड रिपन ने भारत से प्रस्थान किया था, उस समय समस्त देश शोकाकुल था। अब भी भारतवासियों और अँगरेज़ों में खींचातानी चली आती थी। द्वेषाग्नि अभी जल ही रही थी जब लार्ड डफ़रिन वाइसराय होकर आये थे। वे कूटनीति में ही पले थे, उनकी घुट्टी में ही मानों कूटनीति पड़ी थी। वे जन्मतः भी कूटनीतिज्ञ थे और उनको शिक्षा भी कूटनीति की ही मिली थी। उनका उद्देश्य शासक जाति के क्रोध को शान्त कराना तथा लार्ड रिपन के कार्यों को धीरे

धीरे नष्ट करना था। उन्होंने सोचा कि तुरन्त यह काम करना कदाचित् भयानक हो; क्योंकि राजनीतिक स्वाधीनता तथा समानता की पुकार मच चुकी थी। भारत-वासियों की वह आकांक्षा पूरी करना तो असम्भव था ही पर बलपूर्वक उसका दमन करना भी भयानक था। लार्ड लिटन के वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट को फिर से जारी करना असाध्य था। लार्ड रिपन की सुनीति से उत्पन्न अवस्था में जो राजनीतिक आन्दोलन खड़ा हुआ था और जो भयङ्कर रूप से बढ़ता जा रहा था, उसे नष्ट करना भी किसी प्रकार सम्भव न था। उस आन्दोलन का जितना ही अधिक विरोध या उपहास किया जाता, अथवा उसके साथ जितनी ही अधिक घृणा की जाती थी, वह उतना ही बढ़ता और फैलता जाता था। अतः लार्ड डफ़रिन ने निश्चय किया कि कोई ऐसा उपाय निकालना चाहिए जिससे यह आन्दोलन निरर्थक सा हो जाय और इससे किसी प्रकार की हानि न हो सके। उन्होंने स्वयं आन्दोलनकारियों से ही यह काम निकालना चाहा और ऐसे ढङ्ग से उन्हें अपने हाथ की कठपुतली बना लिया कि उन्हें डफ़रिन की उस कूटनीति का पता भी न चल सका। अर्थात् डफ़रिन ने आन्दोलनकारियों को ऐसे मार्ग में लगा दिया जिसमें वे अनजान में स्वयं अपने ही पक्ष की हानि करने लग गये।

दूसरा खण्ड।

भारतीय राष्ट्रीय महासभा का जन्म।

भारतीय राष्ट्रीय महासभा अँगरेज़ों की चलाई हुई है।

यह एक निर्विवाद ऐतिहासिक सत्य है कि राष्ट्रीय महासभा या कांग्रेस का विचार लार्ड डफ़रिन के मस्तिष्क से उत्पन्न हुआ था और उन्होंने भारत सरकार के भूतपूर्व मन्त्री मि० ह्यूम से कांग्रेस की सृष्टि करने के लिए कहा था; और ह्यूम साहब ने कांग्रेस खड़ी की थी। हमारे पास इसका कोई प्रमाण नहीं है कि ह्यूम साहब ने उन भारतीय नेताओं को जिन्होंने कांग्रेस के स्थापन में योग दिया था, इस बात की सूचना दी। पर सम्भवतः उन्होंने कुछ लोगों से अवश्य ही यह कहा था कि कांग्रेस खड़ी करने का विचार मुझे लार्ड डफ़रिन ने सुझाया है। यह भेद लार्ड डफ़रिन के जीवन काल ही में खुल गया था, समाचार पत्रों में प्रकाशित किया गया था और लार्ड डफ़रिन का ध्यान भी उसकी ओर दिलाया गया था। पर उन्होंने कभी इसका खण्डन नहीं किया था। ह्यूम साहब ने भी जो सन् १९१२ में मरे थे इसे कभी अस्वीकार नहीं किया था। उनके

जीवनी लेखक और कांग्रेस के ज्ञानवृद्ध नेता सर विलियम वेडरबर्न ने भी इसको सत्य माना है। सर विलियम वेडरबर्न ने ह्यूम साहब के जीवन चरित्र के ५९ वें पृष्ठ में लिखा है "ह्यूम साहब ने निस्सन्देह राष्ट्रीय आन्दोलन के संस्थापन में वाइस-राय लार्ड डफ़रिन से परामर्श लिया था। पहले उनका विचार सामाजिक सुधार ही आरम्भ करने की ओर था, पर लार्ड डफ़रिन की सलाह से उन्हें पहले राजनीतिक संघटन का ही कार्य हाथ में लेना पड़ा। लार्ड डफ़रिन ने ह्यूम साहब से जो कुछ कहा था उसके सम्बन्ध में वेडरबर्न साहब ने जो कुछ लिखा है, उसके सत्य होने में हमें कुछ भी शङ्का नहीं है; क्योंकि इस सम्बन्ध में ह्यूम साहब की शुद्ध हृदयता में कोई सन्देह नहीं है। लार्ड डफ़रिन ने ह्यूम साहब से साफ़ साफ़ कहा था कि "देश के प्रधान शासक होने के कारण मुझे जनता की वास्तविक इच्छा जानने में अत्यन्त कठिनता होती है और शासन कार्य्य में प्रजा के लिए यह अत्यन्त हितकर होगा यदि कोई ऐसी संस्था बन जाय जिसके द्वारा भारतीय जनता के उच्चकोटि के विचार हमें मालूम हो जाया करें।" वेडरबर्न साहब हमें विश्वास दिलाते हैं कि सब लोगों ने इस उचित परामर्श के लिए हृदय से कृतज्ञता प्रकट की थी और कांग्रेस के नेताओं तथा सरकारी कर्मचारियों में परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था कि नेताओं ने उस समय के बंबई के गवर्नर लार्ड रेके सभापतित्व में कांग्रेस का पहला अधिवेशन करने के लिए लार्ड डफ़रिन से अनुमति माँगी थी। यह भी कहा जाता है कि लार्ड डफ़रिन ने कांग्रेस के गवर्नमेण्ट के साथ मिल कर कार्य करने की इच्छा के प्रस्ताव का हृदय से स्वागत किया था, पर उन्होंने इस प्रस्ताव के स्वीकार करने में

अनेक असुविधाएँ देखीं, इससे यह प्रस्ताव स्थगित कर दिया गया था। "तथापि कांग्रेस का पहला अधिवेशन उच्चतम अधिकारियों की स्नेहपूर्ण सहानुभूति के साथ किया गया था।"

यही कांग्रेस का आरम्भ है और राष्ट्रीय दल के बड़े बड़े नेताओं की दृष्टि में इसे दूषित ठहराने के लिए यही पर्याप्त है। संसार के इतिहास में इसके समान और कोई घटना नहीं है। क्या इससे पहले और भी किसी ने कभी सुना था कि एक अनियन्त्रित सरकार ने जो सभी कार्य्यों और सभी बातों में विदेशी हो, स्वयं अपनी ही प्रजा की राजनीतिक स्वतन्त्रता का आन्दोलन आप ही आरम्भ कराया है ?

स्वाधीनता पेमी ह्यूम साहब।

यह स्पष्ट है कि लार्ड डफ़रिन ने जब राजनीतिक मामलों में भारतवासियों की सर्वश्रेष्ठ सम्मति जानने के लिए एक राजनीतिक संस्था स्थापित कराने का विचार किया था, तब उनको यह कभी आशा नहीं थी कि वह संस्था आगे चलकर प्रतिनिधि शासन अथवा उपनिवेशों के ढंग का पूर्ण स्वराज्य मांगेगी। उनका विचार तो यह था कि इस संस्था के द्वारा लोग अपनी राजनीतिक आकांक्षाएँ प्रकट करके और अपने उद्गार निकाल कर ही सन्तुष्ट हो जायँ और किसी प्रकार के उपद्रव आदि की ओर प्रवृत्त न हो सकें। वे यह कभी नहीं चाहते थे कि यह सस्था राष्ट्रीय कार्य्य करने के लिए एक सच्ची राष्ट्रीय संस्था बने। ह्यूम साहब का तात्पर्य कदाचित् कुछ इससे भी अधिक हो। वे स्वतंत्रता-प्रेमी पुरुष थे और उनकी इच्छा थी कि भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता ब्रिटिश राज्य की छत्र छाया में ही प्राप्त हो। वे एक देशभक्त अँगरेज़ थे और अँगरेज़ों

तथा भारत का संबंध स्थायी रखना चाहते थे। उन्हें इस बात का भय था कि यदि लोगों में भीतर ही भीतर असन्तोष बढ़ता जायगा तो कदाचित् ब्रिटिश शासन का नाश हो जायगा और कांग्रेस के स्थापन में उनका एक उद्देश्य यह था कि वे भारत में ब्रिटिश शासन को अत्यन्त घोर विपद में पड़ जाने की शंका करते थे। सर आकलैंड कालविज को उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था कि ब्रिटिश सबंध द्वारा उत्पन्न दिन पर दिन बढ़ने-वाली प्रतिघातक शक्तियों को व्यर्थ करके निकाल देने के लिए एक मार्ग की आवश्यकता है और उसके लिए कांग्रेस के आन्दोलन से बढ़ कर और कोई अन्य उपाय नहीं है। संयुक्त प्रदेश के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सर आकलैंड कालविन और ह्यूम साहब के परस्पर पत्र व्यवहार से कांग्रेस के आन्दोलन की उत्पत्ति का कारण मालूम हो जाता है और यह कारण इतना स्पष्ट है कि कोई भी भारतीय राजनीतिक कभी इसकी उपेक्षा नहीं करेगा।

निस्संदेह कांग्रेस के स्थापन का मतलब यही था कि साम्राज्य को निकट भविष्य में होनेवाले उस घोर संकट से बचाया जाय जो विशेष शिक्षित व्यक्तियों के हृदय में उत्पन्न मनोमालिन्य के कारण आ सकता था। ह्यूम साहब कहते हैं कि कांग्रेस के मूल संचालकों के लिए इसके सिवा दूसरा उपाय नहीं था। पश्चिमी विचार, शिक्षा, आविष्कार और साधन बढ़ते जा रहे थे और तेज़ी के साथ अपना काम कर रहे थे। उनके निकास के लिए किसी वैध मार्ग की नितान्त आवश्यकता थी। नहीं तो वह दिन पर दिन अन्दर ही अन्दर बढ़ता जाता, और उसका बढ़ना ठीक नहीं था। ह्यूम साहब आगे चल कर लिखते हैं कि कुछ प्रान्तों में तथा किसी किसी

की राय में यह आन्दोलन असामयिक था, तथापि भविष्य में ब्रिटिश साम्राज्य की अखंडता बनाये रखने के लिए कांग्रेस का संस्थापन असामयिक न था, बल्कि कांग्रेस की स्थापना के समय मुख्य प्रश्न तो यह था कि कहीं यह काम देर से तो नहीं हो रहा है, कहीं देश इसे नामंजूर तो नहीं कर देगा? अवश्य ही घटनाओं से प्रकट होता है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सफल हुई है और या तो ह्यूम साहब का राजनीतिक स्थिति का अवलोकन और कथन अत्योक्ति पूर्ण था अथवा निकाला हुआ उपाय उचित प्रमाणित हुआ है।

ब्रिटिश साम्राज्य को आपदा से बचाने के लिए ही कांग्रेस है।

यह स्पष्ट है कि कांग्रेस के संस्थापन का मतलब भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता दिलवाने की अपेक्षा ब्रिटिश साम्राज्य को आपदा से बचाना ही था। उसमें ब्रिटिश साम्राज्य के हित का ध्यान प्रधान तथा भारत के हित का गौण था। कोई यह नहीं कह सकता कि कांग्रेस कभी अपने लक्ष्य से विमुख रही है। न्याय तथा विवेक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि कांग्रेस के संचालकों ने भारत में ब्रिटिश राज्य का होना ही उसके लिए हितकर समझा था और उनके संचालक केवल उसको भयंकर आपदाओं से बचाने ही के लिए यथाशक्ति प्रयत्न नहीं करते थे बलिक भारत में अँगरेज़ी राज्य और भी दृढ़ करने का प्रयत्न करते थे। वे देश के राजनीतिक कष्टों को दूर करने और उसकी राजनीतिक उन्नति करने के विचार को गौण ही समझते थे। यदि यही बात हो तो कांग्रेस अपने लक्ष्य पर दृढ़ रही है और कोई उसमें दोष नहीं निकाल सकता। ह्यूम

साहब के जीवनी लेखक ने उनके कागज़ों में पाई हुई एक यादद‌ाश्त के आधार पर इस बात का एक प्रमाण ढूँढ़ निकाला है जिससे सिद्ध होता है कि उन्हें (लार्ड लिटन के भारत से जाने के सवा महीने पूर्व ही) यह विश्वास हो गया था कि भारत में अँगरेज़ों के विरुद्ध एक अत्यंत घोर उपद्रव खड़ा होना चाहता है। हम ह्यूम साहब ही के शब्दों में कहते हैं— "मुझे सात बड़ी बड़ी जिल्दें (बरमा, आसाम और छोटे छोटे प्रदेशों को छोड़ कर देश के प्रधान प्रान्तों की) अनगिनत रिपोर्टों से पूर्ण दिखलाई गई थीं। देशी भाषाओं में लिखी हुई ये रिपोर्टें विस्तृत भी थीं और संक्षिप्त भी। साथ ही अँगरेज़ी में उनका संक्षेप या अनुवाद भी था। सब रिपोर्टें ज़िलेवार (हमारे विभाग के सदृश नहीं) या शहरों तथा ग्रामों के अनुसार अनेक विभागों में विभक्त थीं। इन रिपोर्टों की संख्या अपार थी और उनमें प्रायः तीस सहस्र से अधिक संवाददाताओं के विवरण थे। मैंने उन्हें गिना नहीं वे असंख्य थीं। केवल उत्तर पश्चिमी प्रान्त (देश का उपद्रवी अंश जिसकी मुझे आसमान्य जानकारी थी) के ज़िलों, नगरों और ग्रामों की रिपोर्टें ही बेशुमार थीं।" वे कहते हैं कि एक सप्ताह तक ये जिल्दें मेरे पास रहीं। उनमें से छः को ही वे देख सके थे। उन्होंने उत्तर-पश्चिमी प्रान्त, अवध, बिहार बुंदेलखंड के कुछ अंश, और पंजाब के कुछ अंश के वर्णन का ही सूक्ष्म निरीक्षण किया था और जिन ज़िलों का उन्हें विशेष ज्ञान था, उन्हीं ज़िलों की रिपोर्टों में छोटी जाति के लोगों की बात चीत दी गई थी जिससे यह सिद्ध होता था कि निर्धन जनता देश की सामयिक अवस्था से असंतुष्ट थी। उसको दृढ़ निश्चय था कि चाहे हम भूखों मर जायँ, पर कुछ न कुछ कर डालेंगे और

एक दूसरे का साथ देंगे; और इस "कुछ न कुछ कर डालने" का अर्थ उपद्रव था। (क्योंकि बहुत सी रिपोर्टों से यह झलकता था कि तलवार, भाले और बन्दूकें गुप्त रूप से प्रस्तुत हैं और यथा समय काम में लाई जा सकेंगी। उस समय यह नहीं समझा गया था कि इसके परिणाम-स्वरूप गवर्नमेंट के विरुद्ध ही किसी प्रकार का विद्रोह होगा। जो कुछ अनुमान किया गया था वह यह कि जहाँ तहाँ दुःखदायी समझे जाने वाले लोगों की हत्या, महाजनों के यहाँ डाँके तथा बाज़ारों में लूट मार होने लगेगी) "छोटी जाति की भूखों मरनेवाली जनता की तत्कालीन अवस्था से यह अनुमान किया जाता था कि आरंभ के थोड़े से अत्याचारों की देखा देखी और भी सैकडों अत्याचार होने लगेंगे और अराजकता की वृद्धि होगी जिससे अधिकारियों और बड़े बड़े लोगों का सब काम बन्द हो जायगा। छोटे बदमाश लोग मिल कर एक हो जायँगे और फिर पढ़े लिखे भी उनका साथ देंगे और उसे राष्ट्रीय विद्रोह मान बैठेंगे।"

सर विलियम वेडर बर्न अपनी जानकारी से आगे कुछ और लिखते है। वे कहते हैं—"भारत में व्यापक संकट का पूर्वरूप बम्बई प्रान्त में मेरे देखने में आया था। उस समय बम्बई के कृषकों ने वह उपद्रव आरम्भ किया था जिसे आजकल दक्षिण का विद्रोह कहते है। इनका आरम्भ महाजनों पर आक्रमण और लूट मार आदि से हुआ था और ये डाकू दल मिल कर इतने बलवान् हो गये थे कि पुलिस के लिए इनका सामना करना कठिन हो गया था और पूने की समस्त सेना को उनसे लोहा लेना पड़ा था। वे पश्चिमी घाट के जंगलोंमें घूमते, फ़ौजी आदमियों को देख तितर बितर हो जाते और

फिर एक स्थान पर आ मिलते थे। हम लोगों को महाबलेश्वर और माथरान पहाड़ियों पर से चारों तरफ़ उनके शिविरों के बाहर आग जलती हुई दिखलाई पड़ती थी। उनमें से एक नेता उठ खड़ा हुआ था जो अपने आपको शिवाजी द्वितीय कहता था। उसने गवर्नमेंट को ललकारा और बम्बई के लाट सर रिचर्ड टेम्पल को मार डालने के लिए पाँच सौ रुपये का पुरस्कार देने का वादा किया था और जिस प्रकार के राष्ट्रीय विद्रोह से मराठा शक्ति पहले पहल स्थापित हुई थी, उसी प्रकार का एक राष्ट्रीय विद्रोह करना निश्चित किया था।"

कांग्रेस के इन दोनों नेताओं की सम्मति में कांग्रेस का मूल सिद्धान्त ब्रिटिश साम्राज्य को आपदा से बचाना ही था। कांग्रेस के संस्थापन का यही एक लक्ष्य था, इसके मानने में एक कठिनाई है। यह कहा जाता है कि ह्यूम साहब ने, जब वे गवर्नमेंट की सेवा में थे तब लार्ड लिटन के भारत से जाने के पन्द्रह महीने पहले विद्रोह के प्रमाण और चिह्न देखे थे। उस समय और सन् १८८५ के कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में सात वर्ष का अंतर था। इसी बीच में पाँच वर्ष तक लार्ड रिपन वाइसराय रहे और कांग्रेस के संग एक राजनीतिक संस्था खोलने का विचार लार्ड डफ़रिन के मन में उत्पन्न हुआ था।

यह सिद्धान्त कि कांग्रेस राजनीतिक उपद्रव के भय से और उससे बचने के लिए स्थापित की गई थी, कुछ असंगत सा है। ह्यूम साहब ने सन् १८८३ के मार्च महीने में कलकत्ता विश्वविद्यालय के ग्रेजुएटों के सामने जो पहली राजनीतिक वक्तव्य प्रकाशित की थी, उसकी बातें भी इस सिद्धान्त से मेल नहीं खातीं। वह वक्तव्य सिद्धान्तों की दृष्टि

से इतना ठीक और स्पष्टवादिता की दृष्टि से इतना मानवोचित है कि उसका जितना अंश ह्यूम साहब की जीवनी में दिया हुआ है, वह सब का सब हम यहाँ दे देते हैं। यूनीवर्सिटी के ग्रेजुएटों को संबोधन करते हुए ह्यूम साहब ने कहा थाः—

"जिस प्रकार आप लोग उच्चकोटि के शिक्षित समाज में हैं, उसी प्रकार आप लोगों को चाहिए कि समस्त मानसिक सामाजिक, नैतिक तथा राजनीतिक उन्नति के सर्वोत्तम उपायों का अवलम्बन करें। व्यक्ति विशेष अथवा जाति में आवश्यक जाग्रति या उन्नति अन्दर से उठनी चाहिए। आप के देश को अपनी उन्नति के लिए आप सरीखे प्रबुद्ध और ज्ञानपूर्ण पुरुषों और प्रेमपात्र सन्तानों पर आशा रखनी चाहिए। मुझ जैसे विदेशियों का भारत तथा उसकी सन्तानों से प्रेम करना वृथा है और उसके भले के लिए समय देना, कष्ट उठाना, द्रव्य व्यय करना, झगड़ना और स्वार्थत्याग करना सब व्यर्थ है। हमारे सरीखे विदेशी आप लोगों को सम्मति और उपदेशों से सहायता कर सकते हैं, अपना अनुभव, योग्यता और ज्ञान कार्य-करनेवालों को अर्पण कर सकते हैं; पर किसी देश के वास्तविक कल्याण के लिए राष्ट्रीयता के जिन भावों की आवश्यकता होती है, आप की दृष्टि से उनके तत्वों से हम विदेशी लोग बिलकुल रहित हैं। असल कार्य तो इस देश की जनता को स्वयं करना चाहिए। "अलग अलग रहनेवाले व्यक्ति चाहे कितने ही योग्य और सदुद्देश्य रखनेवाले हों, तथापि तितर बितर होने के कारण वे कुछ भी नहीं कर सकते। आवश्यकता तो एकता, प्रबन्ध कुशलता और कार्य करने की एक निश्चित प्रणाली की है। और इसकी पूर्त्ति के लिए असाधारण मनोयोग पूर्वक सुसज्जित और संघठित एक

संस्था की आवश्यकता है जिसका उद्देश्य भारत की जनता का मानसिक, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक कल्याण और उन्नति करना हो। हमारी यह थोड़ी सी सेना ही पूर्ण-तया सुसज्जित और कुशल होनी चाहिए। प्रश्न केवल यह है कि आप लोगों में से कितने लोग पांडित्य और योग्यता के सिवा निःस्वार्थता, नैतिक पौरुष, आत्म-संयम और उपकार-शीलता आदि ऐसे गुणों से भी युक्त हैं जिनका होना इस सेना में सम्मिलित होनेवालों के लिए परम आवश्यक है।"

इससे भी सच्चे और अपार भाव इस पत्र के अन्त में थे, जो इस प्रकार हैं:—

"जैसा कि मैंने पहले कहा है, आप लोग देश की सर्वश्रेष्ठ सन्तान हैं—उसकी जान हैं। यदि आप सज्जनों में से पचास पुरुष भी यथेष्ट आत्मोत्सर्ग की शक्ति, देश के प्रति सच्चा प्रेम और अभिमान, नेतृत्व ग्रहण करने के लिए सच्ची और हार्दिक देशभक्ति संयुक्त और आवश्यकता आ पड़ने पर अपना शेष जीवन उसके लिए अर्पण करने को तैयार नहीं हैं, तो फिर भारत के लिए कुछ भी आशा नहीं है। उसकी सन्तानें अवश्य ही अपने विदेशीय शासकों के हाथ में दीन और निःसहाय होकर रहेंगी, क्योंकि "जो लोग स्वतन्त्र होना चाहते हों उन्हें स्वयं ही सबसे पहले उद्योग आरम्भ करना चाहिए।" यदि विचारवान नेतागण इतने ही दीन हीन या अपने स्वार्थ में लगे हुए हों, वे देश के हित के लिए आगे न बढ़ सकते हों, तब उनका पैरों तले कुचला जाना और पराधीन रहना ही उचित और न्याय संगत है क्योंकि इससे अच्छे बर्ताव के वे पात्र ही नहीं हैं। प्रत्येक जाति अपने योग्यतानुसार ही उत्तम शासन पा सकती है। यदि आप चुने हुए और जाति के उत्तमोत्तम

शिक्षित व्यक्ति अपने स्वार्थ और हित को परे रख कर अपने लिए और अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए, अधिकतर निष्पक्ष शासन और अपने देश के प्रबन्ध में विशेष अधिकार पाने के लिए नहीं लड़ सकते तो हम लोग जो आपके हितेच्छु हैं, भ्रम में हैं और हमारे विरोधी ठीक समझते हैं। आपके प्रति लार्ड रिपन के सुविचार निष्फल और व्यर्थ हैं, हर दशा में जाग्रति की सब आशाओं का अंत है और भारतवर्ष अपने वर्तमान शासन से उत्तम शासन पाने के अयोग्य है। यदि ऐसा ही है तो आपका यह रोना चिल्लाना सब झूठा है कि आप कष्ट पा रहे हैं और आपके साथ लड़कों का सा व्यवहार किया जाता है। मेरी समझ में तो ऐसी दशा में आपके साथ उचित ही व्यवहार किया जाता है। जो मनुष्य होता है वह जानता है कि कैसे कार्य किया जाता है। अब यह शिकायत कि ऊँचे ऊँचे पद आपकी अपेक्षा अँगरेज़ों को ही अधिक दिये जाते हैं, व्यर्थ है और यदि आप लोगों में उस देश-प्रेम का अभाव है जिसके कारण लोग अपने भाइयों के सुख के मुकाबले में अपने सुख को तुच्छ समझते हैं और जिसके कारण अँगरेज़ लोग अपनी वर्तमान उन्नत अवस्था तक पहुँच सके हैं, तो उनको आपकी अपेक्षा अधिक और ऊँचे पद मिलना बहुत ही ठीक है और उनका आप पर शासन करना भी बहुत ठीक और अनिवार्य है। उनके शासन का बोझ आपके लिए इतना असह्य हो जाना चाहिए और आपको अच्छी तरह और दृढ़तापूर्वक यह समझ लेना चाहिए कि व्यक्तिगत और जातीय के लिए केवल आत्मोत्सर्ग और निःस्वार्थता ही स्वतन्त्रता और सुख का आवश्यक साधन है।"

ये शब्द एक कूटनीतिज्ञ वा दांभिक पुरुष के नहीं हैं। हम

साहब अपने कथन का मतलब नहीं समझे पर हमारी सम्मति में जो कुछ उन्होंने कहा वह शुद्ध भाव से ही कहा था। वे स्वतन्त्रता के परम उपासक थे। उनका हृदय भारत की करुणा-जनक अवस्था देखकर पसीजता था और उनकी सम्मति में यह दशा अच्छे शासन से सुधारे जाने के योग्य थी। उनको अपने देशवासियों के भारतीयों के प्रति तुच्छ बर्ताव पर बहुत क्रोध होता था और वे वादों और वचनों की अवहेलना पर लज्जित होते थे। वे उत्कट इतिहासज्ञ थे और पूर्णतया जानते थे कि कोई भी देशी या विदेशी गवर्नमेण्ट जब तक कि प्रजा द्वारा दबाई नहीं जाती, उसकी माँगों को पूरा करने के लिए तैयार नहीं होती। विदेशी गवर्नमेण्ट से कोई आशा करना तो और भी व्यर्थ था। उनकी इच्छा थी कि भारतीय यदि स्वतन्त्रता चाहते हैं तो झगड़ें। पहला काम संघटन का था और इसी का उन्होंने उपदेश दिया था।

हम यह विश्वास करने के लिए तैयार नहीं हैं कि रानडे, तिलक, नौरोजी, डब्ल्यू, सी० बैनर्जी, अयोध्यानाथ और तैयब जी सरीखे लोग अँगरेज़ों के हाथ की कठपुतली मात्र थे। न हम ऐसा विचार ही करते हैं। वे सब सच्चे और पूरे देशभक्त थे। वे अपने देश से प्रेम रखते और मन में प्रशंसनीय भाव रखकर उन्होंने कांग्रेस को स्थापन किया था। यह सम्भव है कि कुछ सहानुभूति प्रकट करनेवाले अँगरेज़ों को ब्रिटिश साम्राज्य के हित का खास खयाल था और उन्होंने कांग्रेस का साथ इसीलिए दिया कि उनको विश्वास था कि इससे वे साम्राज्य को सुरक्षित कर सकेंगे। किन्तु, इस पुस्तक के मूल लेखक को अपने अनुभव से ज्ञात है कि कुछ अँगरेज़ों के हृदयों में मनुष्यत्व और स्वतन्त्रता से कैसा प्रेम था और उन्हें

यह भी दृढ़ विश्वास है कि उनमें से कुछ लोग जिन्होंने कांग्रेस के साथ सहानुभूति दिखलाई, वास्तव में वैसे ही थे।

साम्राज्यवादी अँगरेज़ ऐसे पुरुषों को संकुचित-हृदय कहते हैं, पर वास्तव में उनका हृदय साम्राज्यवादी होने की अपेक्षा कहीं विशाल है। वे समझते हैं कि मनुष्यत्व तथा स्वतन्त्रता मनुष्य मात्र का जन्माधिकार है। उनकी दृष्टि में यदि एक अत्याचारी दूसरों की स्वाधीनता को बलपूर्वक छीन लेता है, दूसरों के विक्रम पर अपना महत्व स्थापित करता है अथवा अपने बल और कुशल कूटनीति से उनके अधिकारों को छीन लेता है तो वह अत्याचारी ही है, चाहे वह स्वयं उन्हींका देशवासी ही क्यों न हो; स्वयं ही देशभक्त है। अपनी स्वतंत्रता और देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए जब तक प्राण हैं तब तक लड़ते हैं। किन्तु उनकी देशभक्ति उस सीमा तक नहीं बढ़ती कि जब उनके देशवासी दूसरे देशवालों को लूटें, तब वे उनकी प्रशंसा करने लग जायँ। हाँ, ऐसे अँगरेज़ भी हैं जो समस्त भूमण्डल की स्वाधीनता के आन्दोलन से अनुराग रखते हैं। वे इससे दुःखित हैं कि उनका देश भारत पर शासन करे। अगर उनकी शक्ति में होता तो वे फ़ौरन भारत से अलग हो जाते। इनमें से कुछ भारतीय राष्ट्रीय दल से पूर्णतया सहानुभूति रखते हैं और जब से भारतीय राष्ट्रीय महासभा का आरम्भ हुआ तब से और उससे बहुत पहले से भी भारत के साथ सहानुभूति रखते हैं। यदि राष्ट्रीय आन्दोलन जितना वे चाहते थे उतना सफलीभूत नहीं हुआ और यदि वे कुछ वास्तविक सुधार न करा सके तो इसमें उनका कोई दोष नहीं है। दोष या तो केवल भारतीयों का है और या स्थिति का।

ह्यूम साहब अपने सिद्धान्त में पूरे निष्कपट थे। किन्तु

उनकी समझ में यह बात न आ सकी थी कि शासकों के दिमाग़ से निकली हुई तथा उनकी सम्मति द्वारा स्थापित राजनीतिक संस्था जो अपने शासकों की ही शक्ति और लाभ को घटाने का प्रस्ताव करती और जिनको वह राज्यच्युत करना चाहती थी, विद्रोही तथा अस्वाभाविक थी। राष्ट्रीय महासभा के भारतीय संचालक अपनी सरल और निष्कपट स्थापना में अपने पूर्व इतिहास को भूल बैठे थे और इस सत्यता को कि "स्वतन्त्रता की इच्छा करनेवालों को पहले आप मैदान में उतरना चाहिए" फलतः विचारा भी नहीं और यह आशा करना कि जिससे भिड़ने के लिए वे मैदान में उतरे हैं वही उन्हें विजय का आशीर्वाद देगा, सर्वथा भ्रम है। हम गोखले महाशय के इस विचार से सहमत नहीं हैं कि "कोई भी भारतवासी इस भारतीय राष्ट्रीय महासभा को स्थापित न कर पाता यदि उसका जन्मदाता एक उच्चकोटि का प्रख्यात पुराना अधिकारी अँगरेज़ न होता; क्योंकि उन दिनों में राजनीतिक आन्दोलन के प्रति सरकारी कर्मचारियों में इतना असंतोष था कि सरकार यदि चाहती तो शीघ्र ही इस आन्दोलन को दबाने का कुछ न कुछ उपाय अवश्य करती।"

पहली बात तो यह है कि राजनीतिक आन्दोलन कांग्रेस के साथ ही साथ नहीं आरम्भ हुआ था। वह बहुत पहले ही आरम्भ हो चुका था और उसको दबाने के सब प्रयत्न विफल हुए थे। दूसरी बात यह है कि उन दिनों भारत के राजनीतिक आन्दोलन के सम्बन्ध में अधिकारियों में उतना अधिक दुर्भाव न था जितना इस समय या कांग्रेस के जीवनकाल से है। किन्तु यदि यह सत्य भी हो कि यह आन्दोलन एक भारतवासी या अन्य भारतवासियों के संयोग द्वारा संचालित नहीं

किया जा सकता था, तो भी हमें जो कुछ कहना है वह यह है कि स्वयं यह कथन ही इस बात का प्रमाण है कि यह महासभा समय से पहले और अनुपयुक्त आधार पर आरम्भ की गई थी।

क्या मि० ह्यूम ने यह नहीं कहा था कि व्यक्तिगत और राष्ट्रीय सभी उन्नतियों का आरम्भ उनके अन्दर से होना चाहिए, बाहरी सहायता से नहीं? क्या उन्होंने यह नहीं कहा था कि देश की सन्तान को स्वयं ही आगे बढ़ना चाहिए? क्या उन्होंने नहीं कहा था कि हमारे सरीखे विदेशियों का भारत के साथ प्रेम करना, उसकी उन्नति का प्रयत्न करना और उसके लिए स्वार्थत्याग करना व्यर्थ है ....हम सहायता और परामर्श दे सकते हैं, पर हममें भारतीय राष्ट्रीयता के भाव नहीं हैं और असल काम स्वयं इस देश के निवासियों को करना चाहिए।

कांग्रेस के भारतीय नेताओं ने इन तत्वों की गूढता का ख़याल नहीं किया और कांग्रेस के द्वारा कम कार्य होना ही इसका फल है। ह्यूम साहब ने अपने वक्तव्य में पचास सच्चे और उत्साही देशभक्त माँगे थे। निस्सन्देह उस समय भी देश में कितने ही ऐसे वीर थे जो राजनीतिक क्षेत्र में तो नहीं पर दूसरी तरह से देश के हित के लिए प्राण अर्पण कर रहे थे। देश को और कांग्रेस को कांग्रेस की प्रणाली पर कार्य करके राजनीतिक क्षेत्र में अपना जीवन अर्पण करने के लिए ऐसे पचास या उससे कई गुने लोगों को पैदा करने में प्रायः बीस वर्ष लगे थे। किन्तु दुर्भाग्यवश न तो ये कांग्रेस में ही हैं न कांग्रेस के हैं। स्वर्गीय दादा भाई नौरोजी और गोखले महाशयों को छोड़ कांग्रेस के जीवित नेताओं में ऐसा कोई नहीं है

जिसने ह्यूम साहब के कथनानुसार कांग्रेस के कार्य में जीवन-दान दिया हो। गत तीस वर्षों में भारत ने कितने ही ऐसे सपूत पैदा किये हैं जिन्होंने जन्मभूमि की सेवा के लिए अपना सर्वस्व दे डाला है। वे सब प्रान्तों, धर्मों और जातियों के हैं। उनमें से बहुत ही थोड़े कांग्रेस में आये हैं या उसके लिए काम करते हैं। उसी समय में कितने ही भारतीयों ने लाखों रुपये और कुछ ने समस्त जीवन की कमाई शिक्षा की उन्नति में या अन्य परोपकार सम्बन्धी कार्यों में दे डाले हैं। पर कांग्रेस को सदा धन का अभाव ही रहा। भारतीय राष्ट्रीय महासभा की ब्रिटिश कमेटी जो लण्डन में है धनहीनता के कारण ही सुचारु-रूप से अपना कार्य नहीं कर सकी थी। ब्रिटिश कमेटी के ख़र्चे का भार अधिकतर सर विलियम वेडरबर्न ही पर रहा था। उन्होंने और ह्यूम साहब ने इस आन्दोलन के लिए बहुत सा धन व्यय किया था। किसी एक भारतीय ने उसका एक अंश भी व्यय नहीं किया था। प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों हुआ? उत्तर स्पष्ट है। आन्दोलन जनता तक नहीं पहुँचा था, नेतागण उस दृढ़ निश्चय से रहित थे जिसके आधार पर बड़े बड़े त्याग हो सकते हैं।

अँगरेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयों में कांग्रेस के आरम्भ में बहुत अधिक उत्साह था। जब तक नेताओं ने जनता तक पहुँचने और सर्वसाधारण में प्रचार का कार्य नहीं किया था, तब तक अधिकारी वर्ग इस आन्दोलन के साथ सहानुभूति रखते थे। जिस समय सन् १८८६ में कांग्रेस का द्वितीय अधिवेशन कलकत्ते में हुआ उस समय लार्ड डफ़रिन ने उसके सदस्यों को गवर्नमेण्ट हाउस में "माननीय अभ्यागत" कह कर उद्यान भोज दिया था। मद्रास के गवर्नर ने भी इसी प्रकार उनका

सन १८८७ में मद्रास में अभिवादन किया था*। किन्तु जिस सन् १८८८ में ह्यूम साहब ने इंगलैण्ड के कार्नली लीग वालों के ढंग का अनुकरण किया तब गवर्नमेण्ट का हस्तक्षेप आरम्भ हो गया। इसके बाद ही कांग्रेस आन्दोलन ने दब्बूपन स्वीकार किया और उस प्रणाली को, जिससे जनता पर स्थायी प्रभाव हो सकता था, छोड़ दिया। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि ह्यूम साहब के मतानुसार "असली काम करनेवाला कोई भी पुरुष न था।"

कांग्रेस राष्ट्रीय आन्दोलन के तत्वों से वंचित थी।

अब कांग्रेस देश के हित और सत्य की अपेक्षा गवर्नमेण्ट और कर्मचारियों की अनुमति की ओर विशेष ध्यान देने लगी। फिर भी प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों हुआ? और उत्तर फिर यही है कि नेताओं में राजनीतिक शुचिता तथा अपने कार्य्य पर विश्वास न था। उनमें कुछ राजनीतिक विचार अवश्य थे, पर कोई ऐसा दृढ़ विश्वास न था जिसके लिए वे कष्ट सहने को तैयार होते। वे यह कहने को तैयार थे कि देश के शासन में कुछ सुधारों की आवश्यकता है, किन्तु वे इसके लिए कष्ट सहने को तैयार नहीं थे। या तो वे यह जानते ही नहीं थे कि हमारा भी कोई लक्ष्य है, या वे उस उत्साह से वंचित थे जो मनुष्य को अपनी उद्देश्य सिद्धि के लिए कष्ट सहन करने के योग्य बनाता है। अथवा यों कहिये वे समझते

* कुछ समय से ये अभिवादन फिर आरम्भ हो गये हैं। सन् १९१४ में मद्रास के अभिनादन में वहाँ के गवर्नर और सन् १९१६ में लखनऊ में वहाँ के लेफ्टनेण्ट गवर्नर पधारे थे।

थे कि देश घोर आन्दोलन के लिये तैयार नहीं है और जो कुछ मिल जाय उसको स्वीकार करना अच्छा है। वे शायद घोर आन्दोलन आरम्भ करने से पहले देश को राजनीतिक पद्धतियों की शिक्षा देकर समस्त राष्ट्रीय शक्तियों का राजनीतिक संघटन करना चाहते थे। भारतीय राष्ट्रीय महासभा के जन्मदाताओं तथा उन लोगों के प्रति जो कुछ वर्ष हुए आन्दोलन की बागडोर सँभाले हुए थे, उचित आदर और सम्मान करते हुए हम यह बिना कहे नहीं रह सकते कि उन्होंने अपने कार्य्यों से स्वयं ही दिखला दिया है कि उनका आन्दोलन एक राष्ट्रीय आन्दोलन के मूलतत्वों से वंचित रहा है।

कोई आन्दोलन केवल उसके जन्मदाताओं की इच्छा से ही राष्ट्रीय नहीं हो सकता। हमारी सम्मति में जब तक कि संचालक स्वयं विकट से विकट आत्मत्याग करने को तैयार न हों, तब तक एक राजनीतिक राष्ट्रीय आन्दोलन स्थापित करना सर्वथा अनुचित है।

एक शिथिल और उत्साह रहित राजनीतिक आन्दोलन जो विरोधियों की कृपा और सहानुभूति पर निर्भर है, जिसमें पग पग पर उन विरोधियों से परामर्श लिया जाता है, जिसके नेता या संस्थापक अपने बचाव की चिन्ता में लगे रहते हैं और धन व्यय नहीं करते और उतना ही काम करते हैं जितने की आज्ञा सरकारी कर्मचारी देते हैं और जितना काम करने से उनके स्वार्थ, सुख तथा आय में बाधा नहीं पड़ती, वह आन्दोलन स्वभावतः वास्तविक राष्ट्रीय हित के लिए हानिकारक है। यदि किसी राजनीतिक आन्दोलन के नेतागण अपने अनुयायियों में अधिक उत्साह संचारित करने के लिए इतनी यथेष्ट तत्परता प्रगट न करें जिससे एक ओर तो वे

अनुयायी अपना उद्देश्य सिद्ध करने के लिए स्वार्थत्याग करने को तैयार हों और दूसरी ओर उन लोगों के मन में जिनके विरुद्ध वह आन्दोलन किया जाता है, किसी प्रकार का भय या आशंका उत्पन्न हो, तो वह आन्दोलन कभी सफल या सिद्ध नहीं होता। आन्दोलन को सफल करने के लिए नेताओं को सब प्रकार के कष्ट सहने के योग्य होना अत्यन्त आवश्यक है। किसी कार्य्य की सिद्धि के लिए थोड़ा बहुत धन देकर ही सन्तुष्ट हो जाना तो उस कार्य्य के प्रति उत्साह या तत्परता होने का बहुत ही छोटा प्रमाण है—बड़ा प्रमाण तो उसके लिए सब प्रकार के कष्ट सहने को तैयार होना है।

यह सत्य है कि इस राष्ट्रीय आन्दोलन में भारतीय नेताओं की अपेक्षा कुछ शुभचिन्तक अँगरेज़ों ने अधिक उत्साह दिखलाया था। उन्होंने उसके लिए अपना धन व्यय किया, अपने देशवासियों को अप्रसन्न किया, देशद्रोही होने का कलंक अपने सिर पर लिया। ह्यूम साहब अत्यन्त असाधारण उत्साही थे उन्होंने इस आन्दोलन को अधिकारियों की स्वीकृति से स्थापित किया था और दो वर्ष तक उसके फल की प्रतीक्षा करते रहे। जब उन्होंने अधिकारियों की सहानुभूति के बड़े बड़े वाक्यों को केवल थोथा और निर्मूल पाया तथा जनता के कष्टों, कठिनाइयों तथा दुखों को हटाने और कम करने का कोई उपाय होता हुआ नहीं देखा, तब उन्होंने आन्दोलन में और भी जान डालना निश्चय किया। उन्होंने भारतीय जनता को राजनीतिक शिक्षा देने तथा उन्हें अपना हित और अनहित जो उनके प्रति किया जाता था समझने के योग्य बनाने का भार उठाया था। उनके विचार में यह

कार्य्य अत्यन्त आवश्यक था क्योंकि दुर्भिक्ष और प्लेग आदि से मृत्यु संख्या सैकड़ों हज़ारों नहीं बल्कि लाखों तक पहुँचती थी। उन्होंने अन्त में कहा कि गवर्नमेंट को इस ओर ध्यान देने पर बाध्य करने के लिए भारतीय जनता के नेताओं को उसी प्रकार असाधारण उपायों का अवलम्बन करना चाहिए जिस प्रकार इंगलैंड में ब्राइट और कावडेन ने प्रजा के खाद्य पदार्थों के कष्ट दूर करने के लिए किया था। अतएव कावडेन की तरह ह्यूम ने भी निश्चय किया कि चूंकि कांग्रेस के नेताओं के गवर्नमेंट को सुझाने के सब प्रयत्न निष्फल हुए हैं, और चूंकि गवर्नमेंट ने उनके समझाने पर समझना स्वीकार नहीं किया, इसलिए अब दूसरा उपाय यह करना चाहिए कि इंग्लैएड में बसनेवाली अँगरेज़ राष्ट्र और उससे भी कहीं बड़े इस भारतीय राष्ट्र की साधारण जनता को देश की इस दुर्दशा से परिचित कराया जाय जिसमें प्रत्येक भारतवासी जो हमारी इस मातृभूमि में वास करता है, हमारा साथी और सहयोगी हो जाय, और यदि आवश्यकता पड़े तो कावडेन और उसके साथियों की भाँति महायुद्ध के लिए सैनिक बन कर न्याय, स्वतन्त्रता और अधिकार के लिए लड़े।*

ह्यूम साहब का राजनीतिक आन्दोलन।

अनियंत्रित शासन के विरुद्ध जो राजनीतिक शस्त्र सदा सफल होता है उसी शस्त्र की ओर, मि० ह्यूम ने अपने उक्त सद्वाक्य में संकेत किया है। ह्यूम साहब के जीवनी लेखक

* देखो सर विलियम वेडरबर्न लिखित ह्यूम साहब की जीवनी पृष्ठ ६२, ६३।

कहते हैं कि भारत में इस आन्दोलन के प्रचार के लिए ह्यूम साहब अपने स्वाभाविक पौरुष से लग गये। वे भारत की प्रत्येक जाति के लोगों से धन के लिए प्रार्थना करते, छोटे छोटे लेख, पुस्तिकाएं और पत्रिकाएँ वितरण करते, व्याख्यान दाताओं को चारों ओर व्याख्यान देने तथा जाग्रति उत्पन्न करने के लिए भेजते और बड़े बड़े नगरों आदि में सभाएँ करवाते थे। देश भर में प्रायः एक सहस्र से अधिक सभायें हुई थीं। इनमें से बहुतेरी सभाओं में पचास पचास हज़ार दर्शकों से भी अधिक उपस्थिति रही, पचास हजार सूचना पत्र तथा उच्च कोटि की दो पुस्तिकाओं को देश की बारह भाषाओं में अनुवाद छपवा कर बटवाए गये थे।

यह एक सच्चे राजनीतिक भाव से किया हुआ सच्चा राजनीतिक कार्य था। यदि यह उद्योग बराबर होता रहता तो कांग्रेस का इतिहास कुछ और ही हो जाता, और या तो क्रान्तिकारी दल पैदा ही न होता और यदि होता भी तो इसके बहुत पहले होता। देश की राजनीतिक अवस्था आज-कल की अपेक्षा कहीं अच्छी होती। पर वास्तव में हुआ यह कि गवर्नमेंट इस आन्दोलन की शत्रु बन गई। कलकत्ते के एक भोज में लार्ड डफ़रिन ने कांग्रेस को एक अत्यन्त सूक्ष्म पक्षाश्रित कह कर निन्दा की थी। सर आकलेंड कालिव्न ने मुसलमानों को भड़काया, उनसे कांग्रेस की विरोधी संस्थाएँ स्थापित कराईं और कांग्रेस को कुटिल, राजद्रोही और असामयिक आदि कह कर उसकी बहुत ही निंदा की।

कांग्रेस का काम रुका।

ह्यूम साहब ने दबी ज़बान से कैफ़ियत देना आरम्भ

किया। प्रचार-कार्य्य शीघ्र ही इस प्रकार स्थगित कर दिया गया जिसमें वह फिर कभी आन्दोलन के इतिहास में आ ही न सके। इंग्लैण्ड में यह आन्दोलन धन के अभाव से विफल हुआ तथा भारत में दृढ़ निश्चय, उद्योग और उत्साह की न्यूनता से ठण्ढा पड़ गया। हमें फिर कहना पड़ता है कि ह्यूम साहब ने यह आन्दोलन अपनी इच्छा से उतना नहीं रोका था, जितना कि भारतीय नेताओं के भयभीत और हतोत्साह हो जाने के कारण रोका था। यदि भारतीय नेता गण प्रचार-कार्य्य के लिए दत्तचित्त होकर सुसज्जित होते तो देश उनको यथेष्ट धन देता और देशवासी उनका पूरा साथ देते। कदाचित् थोड़े बहुत उपद्रव और कुछ धर-पकड़ होती पर इससे भारतीय प्रजा की अवस्था की ओर इंग्लैण्ड की प्रजा का उतना अधिक ध्यान आकर्षित होता जितना बाद में अट्ठाइस वर्ष तक इंगलैण्ड में हतोत्साह होकर आन्दोलन करने से नहीं हुआ। जनता को राजनीतिक शिक्षा और भी जल्दी जल्दी मिलती और आन्दोलन इतना शक्तिशाली और अचल हो जाता कि फिर उसका विरोध ही न हो सकता। बहुत सम्भव था कि गवर्नमेण्ट आन्दोलन को दबा डालती। पर यह भी हमारी एक विजय ही होती और उससे जनता को राजनीतिक शिक्षा निश्चित और प्रभावशाली रूप में मिलती। क्रान्तिकारी आन्दोलन इससे बहुत पहले आरम्भ हो जाता और गवर्नमेण्ट सन् १९०९ से बहुत पहले ही नरम दल को शान्त करने की बुद्धिमानी करती। जो कुछ हमें १९०९ में मिला था, वह इससे बीस वर्ष पहले मिल जाता। मुसलमानों ने जो कुछ सन् १९०९ में पाया उसे १८८९ में ही पाकर के प्रसन्न हो जाते। पर नेताओं का यह ख़याल था कि हम अभी यथेष्ट बलवान नहीं हुए हैं और

आन्दोलन का दबाया जाना असम्भव है। वे हतोत्साह हो गये और राजनीतिक कष्टों से मुक्त होने का एक मात्र फलदायक उपाय छोड़ बैठे। कोई जाति या राजनीतिक दल तब तक अपनी पुकार को फलदायक बनाने में समर्थ नहीं हो सकता जब तक उसमें उचित मात्रा में उत्साह न हो और जब तक वह अपने विरोधियों में यह दृढ़ विश्वास न उत्पन्न कर दे कि यदि हमारी माँगें (आकांक्षाएँ) पूरी न होंगी तो दोनों पक्षों के लिए भयङ्कर स्थिति उत्पन्न हो जायगी। इंगलैण्ड, फ्रांस और जर्मनी आदि स्वतन्त्र देशों की राजनीतिक उन्नति के इतिहास में इसके यथेष्ट प्रमाण हैं। कोई राजनीतिक आन्दोलन आरम्भ न करना चाहिए जब तक कि उसके संचालक धन और दृढ़ निश्चय के साथ उसकी पूर्ण सहायता करने को तैयार न हों।

इंग्लैंड में कांग्रेस-आन्दोलन।

कांग्रेस सन् १८८८ और १८८६ में घबरा कर दोनों बातों में विफल हुई। पहली बात तो यह है कि वह कई वर्षों तक विलाप, और प्रार्थनाएँ ही करती रही। इंगलैण्ड में ब्रिटिश कमेटी वालों तथा भारत के अन्य हितेच्छुओं ने करुणा भरे शब्दों में इसका रोना रोया था। इंगलैण्ड में कांग्रेस आन्दोलन कभी फलदायक नहीं हुआ। कांग्रेस का अँगरेज़ी लोक मत पर बहुत ही थोड़ा प्रभाव रहा है। यद्यपि कांग्रेस की ब्रिटिश कमेटी का लंडन में एक कार्य्यालय और मुखपत्र पचीस वर्षों से अधिक समय तक रहा तथापि अँगरेज़ राजनीति पर उसका प्रभाव नहीं के समान ही था। यह ह्यूम साहब और सर विलियम वेडरबर्न की उदारता ही थी, नहीं

तो लण्डन में कांग्रेस कार्य्यालय कभी का बन्द हो गया होता। कांग्रेस के नेताओं ने अँगरेज़ जाति में अपने दृढ़ विश्वास की चर्चा अधिक की है। उन्हें बड़ी आशा थी कि यदि हम ब्रिटिश जनता के सामने अपनी वर्तमान अवस्था प्रकट करेंगे तो वह हमारे क्लेशों का निवारण कर देगी। तथापि जो प्रयत्न उन्होंने इसके लिए किये वे सब क्षुद्र थे और निष्फल हुए। भारतीय राजनीतिज्ञों का एक दल है जिसे इंगलैण्ड में आन्दोलन करने में विश्वास नहीं है, किन्तु कांग्रेस के नेता तथा वे लोग जो ३० वर्ष तक इसका संचालन कार्य करते आये हैं, इस दल में नहीं हैं। हम अब यह बतलावेंगे कि ऐसा क्यों हुआ।

कांग्रेस के निष्फल होने के कारण।

(१) न तो यह आन्दोलन जनता द्वारा आरम्भ किया गया और न उसके द्वारा निरूपित ही था। इस आन्दोलन का आरम्भ देशवासियों की ओर से नहीं था। भारतीय जनता के किसी अंश ने भी इस विचार से इसका साथ नहीं दिया था कि संसार में हम तभी प्रतिष्ठित माने जायँगे जब हम सफलतापूर्वक इसका संघटन और प्रयत्न कर सकेंगे। यह आन्दोलन एक अँगरेज़ द्वारा एक दूसरे अँगरेज़ अधिकारी की मन्त्रणा से आरम्भ किया गया था। जो भारतवासी इसमें अग्रगामी बनते थे, वे या तो सरकारी नौकर होते थे अथवा सरकारी नौकरी से सम्बन्ध रखनेवाला कोई और काम या सरकार द्वारा उत्पादित व्यवसाय करते थे। उनमें से बहुत से गवर्नमेण्ट की नौकरी करने की या गवर्नमेण्ट को अपनी योग्यता और देशहितैषिता दिखलाने की इच्छा रखते थे। वे आन्दोलन के लिए अपना समय और शक्ति देने ही तक के

देशभक्त थे और वह भी तब तक, जब तक यह उनके हित में बाधक न होता, उसके लिए अपनी गति को रोकना न पड़ता, अथवा अधिक स्वार्थत्याग न करना पड़ता। हम उनकी देश-भक्ति और उनके सिद्धान्त में शङ्का नहीं करते, पर उनकी वह देशभक्ति अथवा उनके वे सिद्धान्त उन्हें इतने प्रिय नहीं थे कि उनके लिए वे अपना सर्वस्व त्याग सकते।

(२) यह आन्दोलन एक सर्वप्रिय आन्दोलन के तत्वों से हीन था। नेताओं की जनता तक पहुँच न थी। शायद वे यह चाहते ही न थे। उनका प्रचार कार्य कुछ अँगरेज़ी पढ़े हुए लोगों तक ही परिमित था। यह प्रचार अँगरेज़ी ही में किया जाता और कहा जाता था कि वह जनता को सुनाने की अपेक्षा अधिकारी वर्ग ही को सुनाने के उद्देश्य से कहा जाता था। वे लोग सदा सर्वसाधारण से सङ्कोच करते, उन तक पहुँचने का प्रयत्न भी न करते और युवक कार्यकर्ताओं को वैसा करने से रोकते। उनमें से कुछ लोगों ने तो इस सम्बन्ध के प्रयत्नों का खुलेआम विरोध भी किया है।

(३) नेता गण अपने स्वार्थत्याग की असमर्थता तथा निर-र्थकता के कारण जनता में उत्साह संचारित करने में असमर्थ थे। आन्दोलन का प्रभाव उनके साधारण जीवन, आय, ऐश्वर्य और भोगविलास पर कुछ भी न पड़ा था, इससे अलग केवल दो ही सज्जन दादाभाई नौरोजी तथा गोखले थे। ह्यूम और वेडरबर्न साहब के स्वार्थत्याग से जनता लज्जित हुई थी, किंतु वे लोग सर्वसाधरण के हृदयों पर प्रभाव न डाल सके। वस्तुतः उनके कारण जनता में नेताओं के प्रति क्रोध और अविश्वास उत्पन्न हो गया। नेताओं को गवर्नमेण्ट के दिये हुए उच्च

स्थानों की स्वीकृति से उस अविश्वास की मात्रा और भी बढ़ जाती थी।

(४) न तो यह आन्दोलन कुछ चुने हुए लोगों तक परिमित था और न उसमें सबके लिए स्थान था। सर्वसाधारण से सभाओं आदि में अधिक संख्या में आकर जयघोष और शोर करने की आशा तो की जाती थी, पर वे आन्दोलन में सम्मिलित नहीं हो सकते थे। जहाँ तक होता था इस बात का प्रयत्न किया जाता था कि भिन्न भिन्न प्रकार के मत लोगों के सामने न आने पावें और खुल्लमखुल्ला बहस करने की अनुमति न मिलती थी। न तो यह सभाएँ सर्वसाधारण की ही होती थीं और न चुने हुए लोगों की गुप्त सभाएँ ही थीं। यदि वे सभाएँ पूर्ण रूप से सार्वजनिक न होकर केवल चुने हुए लोगों की गुप्त सभाएँ ही होतीं तो उनसे इतना लाभ तो अवश्य होता कि उनके लिए कम धन व्यय होता और इंगलैण्ड में कार्य करने के लिए धन बचता। किन्तु यदि अधिवेशन सार्वजनिक होते तो अधिकतर फलदायक होते।

(५) केवल थोड़ी सी ही रिआयतें माँगनेवाला और जाति की स्वाधीनता तथा उसके लक्ष्य का वर्णन न करनेवाला राष्ट्रीय आन्दोलन कभी फलदायक नहीं होता। ऐसा आन्दोलन इसलिए हानिकारक होता है कि वह लोगों का ध्यान राष्ट्र-निर्माण की ओर से हटाता है और लोगों को ठीक ढंग से काम नहीं करने देता। इससे स्वार्थ त्याग के बिना ही प्रसिद्धि हो जाती है। इसमें छल-कपट और दांभिकता को स्थान मिलता है। यह कुछ लोगों को देश सेवा के बहाने अपना रोजगार चलाने के योग्य बना देता है। कोई भी आन्दोलन इन दोषों से रहित नहीं हो सकता। किन्तु सबसे बड़ी बुराई जो शिथिलता से

हाथ में लिया हुआ आन्दोलन करता है, वह यह है कि उससे लोगों के मन में झूठी आशाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और इसी लिए वे ठीक ढंग से काम करके जल्दी अपनी उन्नति नहीं कर सकते; क्योंकि कार्य-सिद्धि के जो उपाय ऐसे आन्दोलन में बतलाये जाते हैं, उनसे कभी कार्य अथवा मनोरथ की सिद्धि नहीं होती।

तीसरा भाग।

नवीन राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म।

जब तक लार्ड कर्जन ने इस आन्दोलन का उपहास करके जनता को यह विश्वास नहीं दिला दिया कि कांग्रेस की राजनीतिक कार्य्य-प्रणाली उस स्वेच्छाचार को दूर करने में नितान्त असमर्थ है जिसके द्वारा भारतवासियों के अधिकार पद-दलित होते हैं, तब तक वह राजनीतिक आन्दोलन अपने पुराने निर्जीव और शांत मार्ग पर ही चलता रहा। इस बात में उन लोगों को जो सरकारी नौकरी के स्थानों की वृद्धि की अपेक्षा जनता में आत्मभाव चाहते थे राजनीतिक मामलों का और भी सूक्ष्म तथा गूढ़ अध्ययन करने को बाध्य किया। जो लोग राजनीतिक मामलों में केवल अपनी साधारण राय ही नहीं रखते थे, बल्कि जिनका कोई निश्चित सिद्धान्त भी था, जो केवल समय की अनुकूलता पर ही निर्भर न रह कर अपनी सफलता में दृढ़ विश्वास रखते थे और जो अपने देशवासियों के लिए थोड़े से सरकारी पद ही नहीं चाहते थे बल्कि सारे देश में एक नई जान डालना चाहते थे, उन्होंने समझ लिया कि आन्दोलन केवल अनुचित ढंग पर चलने तथा नेताओं के आत्मत्याग की न्यूनता के

कारण ही विफल नहीं हुआ, बल्कि इसलिए विफल हुआ कि नेता लोग वास्तविक सिद्धान्तों और आदर्शों तक नहीं पहुँच सके थे। यही कारण था जिससे देश में स्वदेशी और स्वराज्य की धूम मच गई।

स्वदेशी और स्वराज्य।

ज्यों ही यह पुकार उठी त्यों ही देश भर में एक नये राज-नीतिक जीवन की लहर निकली जिसका पूरा पूरा और गहरा असर सन् १६०५ और १६०६ के कांग्रेस कार्यक्रम पर पड़ा। कलकत्ते में भी सन् १६०६ में कदाचित् वही दृश्य दिखलाई पड़ता जो सन् १६०७ में सूरत में उपस्थित हुआ था, किन्तु दादाभाई की देशभक्ति और कुशलता ही थी कि जिससे उन्होंने समय का ध्यान रख कर स्वराज्य की पुकार का स्वागत किया। उन्होंने अंगरेज़ प्रधान मंत्री सर हेनरी केम्बेल बेनर-मैन के शब्दों में कहा कि उत्तम शासन कभी स्वराज्य का स्थानापन्न नहीं हो सकता। अब तक कांग्रेस का उद्देश्य उत्तम शासन प्राप्त करना ही था। सन् १६०६ के कलकत्ते के अधि-वेशन में वह उद्देश्य स्वराज्य में परिवर्तित हो गया और वह उद्देश्य एक ऐसे महाशय के मुँह से निकला था जिन्होंने अपना समस्त जीवन राजनीतिक कार्य में ही अर्पण कर दिया था। वही असली राजनीतिक आन्दोलन के जन्म का दिन था।

सूरत में जो झगड़ा हुआ था, उसके और कारणों में एक कारण यह भी था कि लोगों को इस बात की आशंका थी कि १६०६ में स्वराज्य के संबन्ध में जो कुछ निश्चित हुआ था, कुछ लोग उसे रद्द करके फिर अपने पुराने मार्ग पर चलना चाहते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नरमदलवाले उस समय चाहे

ज़बान से यह बात न कहते हों, पर उनका वास्तविक उद्देश्य यही था। सन् १८८८ की कांग्रेस के प्रख्यात प्रचार द्वारा उत्पादित उत्साह आगे चल कर प्रत्याघातों से नष्ट हो गया था। वही बात फिर सन् १९०७ में भी हो जाती, किन्तु इस समय आन्दोलन इतना दृढ़ और शक्तिमान हो चुका था कि उसके लिए बहुत से लोग अपना सर्वस्व तक त्यागने के लिए तैयार हो गये थे।

स्वदेशी तथा स्वराज्य के उच्च आदर्शों को भारत के सपूतों ने ही कार्य रूप में परिणत किया था। मातृभूमि के कष्टों ने लोगों में एक नया भाव उत्पन्न कर दिया था, और वह भाव बहुत ही उच्च था। इस वार कष्टों के विमोचन का ही विचार न था वल्कि स्वतन्त्रता की अभिलाषा थी जो जनता के हृदयों में थी। वे रियायत नहीं बल्कि स्वतन्त्रता की इच्छा करते थे। स्वतन्त्रता कोई भौतिक वस्तु नहीं है जो दी या स्वीकार की जा सकती हो। वह विजय प्राप्त करके ली जाती है। जनता यह बात समझती थी और अपने जीवन में स्वतन्त्रता पाने को तैयार थी। बीस वर्ष या उससे अधिक समय तक रियायतों और कष्ट विमोचन करने के लिए निरर्थक आन्दोलन करने के पश्चात् उसे रोटियों के स्थान में पत्थर मिले थे। लार्ड रिपन के बाद एक कर्ज़न आये। लोगों ने देखा कि बीच में एक भारी परदा पड़ा है जो हमें आगे देखने से रोकता है। अब तक वे व्यर्थ की बातों के पीछे भटकते थे। आश्रय स्थान उनकी दृष्टि से ओझल कर दिया गया था और उनकी छोटी नौका अनुचित मार्ग पर चली जा रही थी। मार्ग में समुद्र में भारी तूफ़ान उठ रहा था। कोई जहाज़ तब तक अपने उद्दिष्ट स्थान तक नहीं पहुँच सकता जब तक उसके संचालक अपने

लक्ष्य की दिशा न जानते हों, और जो कुछ उनके पास हो उसे अर्पण करने को उद्यत न हों। अब तक भारतीय राजनीतिक आन्दोलन का जहाज़ गलत तारों को देख कर गलत रास्ते पर चल रहा था, और उसका संचालक कप्तान ऐसा था जिसके पास दिग्दर्शन यन्त्र ही न था। अब एक दिग्दर्शन यन्त्र मिल गया था और उसे पाने के साथ ही साथ अवस्था भी बदल गई थी। विचार या भाव ही मनुष्य को उत्तेजित करते हैं। आदर्श ही लोगों को मृत्यु तक का सामना करने को तैयार करते है। जब स्वराज्य का आदर्श सामने आया तब उसने लोगों को कष्ट सहने और मृत्यु तक का सामना करने के लिए तैयार पाया। इस नवीन आन्दोलन ने एक नवीन श्रेणी के लोगों को जिनका हृदय इस आदर्श से पूर्ण था उत्साहित किया था। वे स्वराज्य भक्त और सर्वोपरि मातृभूमि से प्रेम रखते हैं। वे उच्च पद, अच्छी आय, प्रसिद्धि तथा प्रशंसा आदि के अभिलाषी नहीं हैं। जो कुछ वे चाहते हैं, वह स्वतन्त्रता है: और वह भी अपने लिए नहीं, (क्योंकि वे स्वयं तो दूसरे देशों में रहकर भी स्वतन्त्रता पा सकते थे) बल्कि अपने प्रिय देश के लिए। हाईकोर्ट के न्यायाधीश के पद, सिविल सर्विस, काउन्सिल आदि उनके लिए तुच्छ हैं।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्मदाताओं ने गवर्नमेण्ट के प्रोत्साहन और सरकारी ऊँचे ऊँचे पदों की छत्रछाया में जिस पर वे थे या जिन्हें पाने की वे लालसा रखते थे, यह आन्दोलन आरम्भ किया था किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रोत्साहकों और प्रवर्त्तकों ने अपना प्रचार कार्य गवर्नमेण्ट तथा उसके संरक्षण का बहिष्कार करके आरम्भ किया था। वे लोग तो ऊँचे ऊँचे स्थानों की लालसा रखते थे; और ये लोग उन लोगों से जो

उन स्थानों पर थे घृणा करते थे। वे रियायतें चाहते थे; ये उन्हें अस्वीकार करते थे। वे काउन्सिलें चाहते थे; ये उनसे कुछ प्रयोजन ही रखना नहीं चाहते थे। वे ब्रिटिश गवर्नमेण्ट और ब्रिटिश जाति से प्रार्थना करते थे और ये अपने देशवासियों की देशभक्ति पर भरोसा रखते और अपने ईश्वर से प्रार्थना करते थे। उन लोगों को अँगरेज़ रास्ता दिखाते थे; और इन लोगों के मार्गदर्शक शुद्ध भारतवासी थे। वे ऐसा कार्य्य न करते जो उनके जीवनक्रम में बाधा डालता; और ये मिलने वाले अवसरों का विषैली रोटियों की भाँति त्याग कर देते थे। वे बँगलों में रहते, सजे सजाये कमरों में ऐश-मौज करते, मखमल जड़ी हुई कुर्सियों पर बैठते, वर्दी पहने हुए नौकरों से अपनी सेवा कराते; उत्तमोत्तम भोजन करते, गवर्नरों और मजिस्ट्रेटों को निमंत्रित करते; और इन्होंने अपने थोड़े से सुख को भी त्याग दिया और पैजामों के स्थान पर धोती, कोट के स्थान पर चपकन या कुरता, ओवरकोट के स्थान पर कम्बल और बूट के स्थान पर साधारण स्वदेशी जूते धारण करने लगे। वे अपने जीवन सुख, सम्मानित पद और विलासिता अँगरेज़ी प्रणाली की कृपा से प्राप्त करते और इसी कारण से अँगरेज़ों के अनुगृहीत थे, पर इन्होंने अनुग्रह से बचने के लिए निर्धनता और निराश्रयता का मार्ग ग्रहण किया। ये लोग जान बूझ कर अवसरों को इस विश्वास से कि हम जो कुछ करते हैं, उचित करते हैं, जाने देते। वे मदिरा, बालबच्चों और घर-बार की अधिक चिन्ता करते थे; पर इन्होंने अपने आपको कार्यसिद्धि में लगा दिया था और मातृभूमि की सेवा में लगे रहने के लिए सब कुछ त्याग दिया था। उन्होंने बाइस वर्ष के समय में केवल दो ही ऐसे पुरुष पैदा किये जिन्होंने अपना

सम्पूर्ण समय प्रयोजन की सिद्धि में लगाया था; और इन्होंने सचमुच वैसे ही सैकड़ों और हज़ारों देशसेवक दो वर्ष से भी कम के अवसर में पैदा किये। उन्होंने उत्तम छाया पाकर कार्य किया था और इन्होंने अपना कार्य्य उस मेघाच्छन्न आकाश में आरम्भ किया जो शीघ्र ही मूसलाधार वृष्टि करने लगा और जिसने उनमें से बहुतों को कारागृह की ओर बहा दिया। क्या यह कोई आश्चर्य की बात है कि ऐसे प्रोत्साहन में यह आन्दोलन वनाग्नि की भाँति फैला और कई गुना अधिक बढ़ गया? जीवन से जीवन और शक्तियों से शक्तियाँ भिड़ीं। इस झगड़े और मुठभेड़ में दोनों पक्षों की कुछ न कुछ हानि हुई पर राष्ट्रीय दलवालों में उनकी संख्या को देखते हुए बहुत ही अधिक वीर आहत हुए थे। किन्तु परिणाम को देखते हुए कोई यह कहने में सङ्कोच नहीं कर सकेगा कि नैतिक विजय राष्ट्रीय पक्ष की ही हुई। प्रचार कार्य्य आरम्भ करनेमें पाँच वर्ष के अन्दर ही उन्होंने गवर्नमेण्ट को ऐसी रिया-यतें करने के लिए बाध्य किया जिनकी सन् १६०५ में कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। कांग्रेस के नेतागण तथा गवर्नमेण्ट दोनों अलग अलग अपने आपको इस यश का भागी बतलाते हैं; परन्तु निष्पक्ष इतिहासज्ञों का निर्णय इससे भिन्न कुछ और ही होगा।

देश में गरमदल के होने के कारण वे नरमदलवालों ही को अपनी ओर मिलाने लगे। गरमदल की अनुपस्थिति में नरम-दलवाले ही गरम समझे जाते थे और गवर्नमेंट तथा उसके कर्मचारी उनसे घृणा करते थे। आज एँग्लो इंडियन राजनी-तिज्ञ और उनके विश्वासपात्र नरमदल के कांग्रेस-नेता कहते हैं कि गरमदल में लोग बहुत ही थोड़े हैं; और उनमें से बहुत

से ऐसे अकर्मण्य हैं जो विश्वविद्यालयों में तथा अपने जीवन में कुछ भी न कर सके; वे पागल हैं और उनको अच्छे बुरे का कुछ भी ज्ञान नहीं है।

आन्दोलन को उत्तेजना देने वाले नेता।

अब उन लोगों की ओर दृष्टि डालिये जिन्होंने आन्दोलन को उत्तेजना दी है; उनमें से कुछ तो इस समय भी इस आन्दोलन में लगे हुए हैं। क्या अरविन्द घोष और हरदयाल असमर्थ या अयोग्य हैं? क्या बंगाल से निर्वासित नौ देशभक्त अयोग्य थे? कितने ही उच्चकोटि के शिक्षा प्राप्त सम्मानित व्यक्ति फाँसी पर लटकाये गये और कितने ही जल में हैं। देखिये कि उन्होंने कितनी अधिक शिक्षा प्राप्त की है और साधारण जीवन व्यतीत करके वे कहाँ तक उन्नति कर सकते थे, और तब भी यदि आप कह सकते हों तो कहिये कि वे अच्छे आदमी नहीं हैं और वे इसी लिए सरकार के विरोधी हो गये हैं कि उसके शासन में रह कर वे उन्नति नहीं कर सकते थे। उनके आन्दोलन ने गवर्नमेंट को ऐसा घोर और कठोर दमन करने के लिये बाध्य किया जो केवल विदेशी गवर्नमेण्ट ही कर सकती है। राजद्रोह की परिभाषा को और भी विस्तृत करने के लिए कानून में परिवर्धन किया गया। भारतीय दण्ड-विधान में इसलिए परिवर्त्तन और परिवर्धन किया गया कि जिसमें लोगों को और भी सहज में दण्ड दिया जा सके और उनके मुकद्दमों का चटपट फैसला हो जाया करे। ऐसे नये विधान किये गये जिनके द्वारा मजिस्ट्रेटों को इस बात का अधिकार हो गया कि वे राजनीतिक कारणों में जिससे चाहें, उससे ज़मानत या मुचलका माँग लें; और यदि

वह ज़मानत—मुचलका न दे तो उसे चटपट जेल भेज दें। प्रचार कार्य्य को असम्भव करने के लिए एक सेडीशस मीटिंग्स एक्ट बनाया गया, एक्सप्लोज़िक्स एक्ट बनाया गया, समाचारपत्रों का मुँह बन्द करने के लिए भी एक कानून बनाया गया। गुप्तचर या खूफिया पुलिस के आदमी अधिक संख्या में बढ़ाये गये। आन्दोलन को नष्ट करने के लिए शिक्षक, अध्यापक, मित्र, विद्यार्थी, सहपाठी तथा माता पिता सभी से प्रार्थना की गई। इतना होते हुए भी प्रेस एक्ट द्वारा ज़ब्त की हुई पुस्तकों की संख्या, राजद्रोह, राजद्रोही हिंसा, डाके, हथियार रखने के अपराध के अभियोग, मुचलका दाखिल न कर सकने के अभियोग आदि सभी दिनों दिन बढ़ते जाते हैं और सरकार घबराकर चिल्लाती है कि राजनीतिक कार्यकर्त्ता बराबर निकलते ही चले आ रहे हैं। जेलों में राजनीतिक अपराधियों को कठोर यंत्रणा सहनी पड़ती है। यहाँ तक कि अंडमन में एक ने आत्महत्या कर ली और एक पागल हो गया था। यहाँ के जेलों से बहुत अधिक कष्ट और दारुण यंत्रणा की अनेक कथाएँ सुनाई देती हैं: तिस पर भी आन्दोलन नष्ट होने से कहीं दूर है।*

इस बात का प्रमाण मिलता है कि गुप्त सभाओं आदि में प्रतिवर्ष नये आदमी सम्मिलित होते हैं और फाँसी पानेवालों तथा जेल भेजे जानेवालों का स्थान ग्रहण करते हैं। कुछ

* आज कल असहयोग के ज़माने में तो इन कानूनों का दुरुपयोग, सरकारी कर्मचारियों का अत्याचार और देशभक्तों का कष्ट, मूल पुस्तक छपने के समय से हज़ारों गुना बढ़ गया है। और फिर भी तमाशा यह है कि आन्दोलन बराबर बढ़ता ही जाता है।—अनुवादक।

लोगों ने तो अपने आपको निर्वासित ही कर दिया और अब वे अति दूर देशों में बहुत ही कष्टपूर्ण स्थिति में रह कर प्रचार कार्य कर रहे हैं। वह पुरुष जो यह कहता है कि यह आन्दोलन नष्ट हो गया था नष्ट हो रहा है, निर्बुद्धि अथवा झूठा है। आन्दोलन जीवित है और संभवतः उतना ही प्रबल है जितना कि पहले था। इसने युवकसमाज पर अधिकार जमा लिया है। यहाँ तथा इंग्लैंड के प्रायः पचहत्तर फ़ी सदी विद्यार्थी इस पक्ष के साथ सहानुभूति रखते हैं। प्रायः सब कांग्रेस के विरोधी हैं। वे लोग भी जो राष्ट्रीय पक्ष के नहीं हैं, कांग्रेस को नहीं चाहते और न उसके प्रति कृतज्ञता के भाव रखते हैं; क्योंकि कांग्रेस उच्च सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने तथा उत्तम आदर्शों को स्थापित करने में विफल हुई है और उस स्वार्थ-त्याग के भाव तथा कष्ट सहन करने की शक्ति पैदा करने में असमर्थ रही जिसके बिना कोई राष्ट्रीय आन्दोलन उन्नत नहीं हो सकता और न लोगों में उत्साह पैदा कर सकता है। इस प्रकार कांग्रेस के विफल होने के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म हुआ। कांग्रेस ने और तो काम किया ही नही, हाँ अपनी विफलता से उसने राष्ट्रीय आन्दोलन की सृष्टि अवश्य कर दी। उसने लोगों को विश्वास दिला दिया कि कितनी ही अधिक प्रार्थनाएँ, प्रस्ताव, विरोध, आवेदन पत्र इत्यादि क्यों न भेजी जायँ, सभी नौकरशाही पर प्रभाव डालने में असमर्थ हैं और न विनय या प्रार्थनाएँ आदि अँगरेज़ी जनता पर ही कोई असर डाल सकती हैं। कांग्रेस के नेता कांग्रेस के कार्य्यों के लिए स्वार्थ त्याग नहीं कर सकते थे, वे शिक्षासंबंधी तथा अन्य पुण्य कार्य्यों के लिए कितना ही धन दान क्यों न करें; इससे जनता को दृढ़ विश्वास हो गया कि

कांग्रेस प्रचार कार्य्य अथवा उसकी कार्य-प्रणाली में स्वयं उन नेताओं का भी विश्वास नहीं है, चाहे वे ऐसा कहने या कार्य्य-प्रणाली में परिवर्त्तन करने में असमर्थ हों। कांग्रेस के तत्कालीन नेताओं से इस प्रकार की कोई आशा करना कदाचित् असंगम ही था। उनमें से अधिकतर देश से प्रेम रखते और उसका कल्याण चाहते थे। अन्य राष्ट्रीय कार्य्यों में जैसे सामाजिक सुधार, प्रजा के शिक्षा कार्य्य और व्यवसायिक उन्नति इत्यादि में उन्होंने अपने देश प्रेम आदि का उत्तम और उचित परिचय दिया था। कांग्रेस के बाहर भी उन्होंने इतना कार्य्य अवश्य कर दिया कि देश में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी जिसमें वह राजनीतिक आन्दोलन अवश्य ही बहुत अच्छी तरह बढ़ सकता था जिसका प्रारम्भ सन १६०५ में हुआ था।

राष्ट्रीय शिशु मानों कांग्रेस के पुराने सदस्यों की गोद में उनके दिये हुए भोजन से ही पला। किन्तु इस पालन पोषण का उस पर जो असर पड़ा उसके लिए वे कांग्रेसवाले न थे और जिससे उन्हें कुछ दुःख भी हुआ। पहला दुःख दूर हुआ और कुछ लोग इस राष्ट्रीय आन्दोलन के शुभ दिन को देखने के लिए जीवित रहने से प्रसन्न हुए। और उन्होंने आन्दोलन को आशीर्वाद दिया। कुछ लोग इस आन्दोलन को नष्ट या छिन्न भिन्न करने पर उतारू हुए, पर वे ऐसा कर नहीं सके। बस अधिक से अधिक जो कुछ वे कर सके वह उसकी निन्दा तथा बुराई ही कर सके थे। उन्होंने आन्दोलन से अपना संबंध तोड लिया और अपने शरीर की रक्षा करने के लिए ऐसा किया, परन्तु सौभाग्यवश अपने विचारों के कारण वे ऐसे मार्ग पर चले गये जिसमें उनकी रक्षा थी। वे शुद्ध हृदय से नवीन आन्दोलन को आशीर्वाद देते और उसे देख कर प्रसन्न

होते थे । इससे उनके अपने आन्दोलन पर उलटा प्रभाव पड़ा । इससे वे रियायतें माँगने और सुधार कराने के काम में और भी उत्साह और शक्ति के साथ लग गये । जब कभी एक गरम दल का नेता समझौता करने को कहता तब वे दुःखित होते । यद्यपि वे स्वयं इस आन्दोलन में योग देना नहीं चाहते थे और सोचते थे कि यह देश के लिए कुछ हानिकर है, तथापि वे चाहते थे कि यह चलता और जीवित रहे । वे अपनी श्रेणी के लोगों में उत्साह तथा आत्मत्याग का अभाव देख कर दुःखित होते पर गरमदल के लोगों की निःस्वार्थता की प्रशंसा करते और उनके सच्चे नेताओं का आदर करते । अरविन्द घोष और तिलक सरीखे महानुभाव उन्हें नवीन राष्ट्रीय आन्दोलन तथा उसके नेताओं आदि की प्रशंसा तथा आदर करने के लिए विवश करते । चाहे हरदयाल में कितने ही दोष क्यों न हों पर वे एक असाधारण पुरुष हैं । हमने अब तक यह बतलाया है कि पुराने तथा नये आन्दोलन में कहाँ से पार्थक्य आरम्भ हुआ और इन दोनों की मुख्य मुख्य बातें क्या थीं । अब हम यह बतलाना चाहते हैं कि इस नये आन्दोलन को किस ढंग पर चलाने का विचार किया गया था; और और उसके कारण अब तक जो कार्य्य आदि हुए हैं, वे कार्य्य करने के लिए यह नवीन आन्दोलन किस प्रकार बाध्य हुआ था ।

लार्ड कर्ज़न और भारतीय शिक्षा ।

हम यह पहलेही कह आये हैं कि किस प्रकार लार्ड कर्ज़न की प्रणाली और उनके कथन ने नवीन आन्दोलन के जन्म में सहायता की थी । जब लार्ड कर्ज़न भारत में आये, तब उन्होंने

देश के शासन में एक बहुत बड़े सुधार के कार्यक्रम का विचार किया। शिक्षा-सुधार भी इन सुधारों में से एक था। देश का प्रत्येक व्यक्ति जिसका यहाँ की शिक्षा से कुछ भी सम्बन्ध था, यह कहता था कि देश शिक्षा में बहुत ही पीछे है और प्रचलित शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण है। यह शिक्षा साहित्य के अंगों पर तो बहुत ज़ोर देती है पर लोगों को जीवन संग्राम के उपयुक्त नहीं बनाती। वह देशी भाषाओं और देश की प्राचीन सभ्यता का बलिदान करके अंग्रेज़ी भाषा और पश्चिमीय सभ्यता पर अधिक ज़ोर देती है। वह सच्ची योग्यता तो उत्पन्न नहीं करती, पर लोगों को रट्टू बना देती है। उसने बड़े बड़े नकाल पैदा कर दिये हैं और मौलिकता के लिए प्रायः कुछ भी स्थान नहीं छोड़ा। उसने देश के शिक्षा सम्बन्धी ऊँचे ऊँचे पदों के लिए विलायत से तीसरी श्रेणी के अंग्रेज़ बुलवाये और यहाँ के उच्चतम विद्वान् और प्रज्ञावान पुरुषों को उनके अधीन रखकर उपयुक्त अवसर के आसरे रहकर भूखों मरने और सड़ने दिया। गवर्नमेण्ट का यह कर्तव्य है कि वह बालकों को आरम्भ से लेकर उस समय तक जब तक कि वह अपने जीवन-मार्ग को निर्धारित नहीं कर लेता है, शिक्षा देने की व्यवस्था करे। पर इस शिक्षाप्रणाली ने गवर्नमेण्ट का यह कर्त्तव्य स्वीकार नहीं किया।

देश की शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता नहीं। किन्तु गवर्नमेण्ट को शिक्षाप्रचार आदि के लिए उचित धन व्यय करना बहुत ही आवश्यक था। लार्ड कर्ज़न के कथनों और कार्यक्रम ने जनता के हृदय में बड़ी बड़ी आशाओं का संचार किया था। उसका युनिवर्सिटी कमीशन तो भारतवासियों और ऐंग्लोइंडियनों के परामर्शों और प्रस्तावों से ही

भरा हुआ था। इन दो पत्तों ने भिन्न भिन्न दृष्टि से इसका पर्य्यालोचन किया था। भारतवासी शिक्षा की अधिकतर सुविधाएँ, स्कूलों कालेजों, अध्यापकों और छात्रवृत्ति की और भी अधिक संख्या, प्रारम्भिक शिक्षा का विस्तार, योग्य और अच्छे वेतनवाले शिक्षक, अपनी निज की संस्थाएँ खोलने की स्वतन्त्रता उद्योग और व्यवसाय सम्बन्धी शिक्षा के लिए पर्याप्त विधान इत्यादि सुधार चाहते थे और सबसे बड़ी बात वे यह चाहते थे कि शिक्षा अधिक राष्ट्रीय और मानवोचित रीति की होनी चाहिए। एँग्लोइंडियन शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं की न्यूनता, प्राइवेट या निज की संस्थाओं का अधिकतर और कठिनतर निग्रह, यूनीवर्सिटी की शिक्षा आदि के मान की वृद्धि और शिक्षा की ऐसी प्रणाली चाहते थे जो उठती हुई पीढ़ी को रोक सके और उसे सरलता से अनुशासन और आज्ञापालन के योग्य कर सके।

लार्ड कर्ज़न ने इन सब प्रस्तावों का अवलोकन तो अवश्य किया, किन्तु उनके निर्णय ने शिक्षित भारतवासियों को यह दिखला दिया कि लार्ड कर्जन की प्रणाली का भीतरी उद्देश्य, गवर्नमेण्ट के शासन तथा अधिकारों को और भी दृढ़ करना, शिक्षा सम्बन्धी मामलों में स्वाधीनता को रोकना और राष्ट्रीय प्रगति और भावों को निर्बल करना था।

लार्ड कर्ज़न की शिक्षा सम्बन्धी गुप्त कान्फरेंस।

शिमला की शिक्षा सम्बन्धी गुप्त सभा में जहाँ उन्होंने गवर्नमेण्ट की शिक्षा सम्बन्धी नीति निश्चित की थी, किसी भारतवासी को सम्मिलित नहीं किया था। यह बात हमारे इस विचार को और भी पुष्ट करती है। उनको यूनीवर्सिटी सम्बन्धी

विधान ने देशवासियों के हृदय पर अपरिमित आघात पहुँचाया और इसमें कोई संदेह बाकी न छोड़ा कि उनका उद्देश्य भारत में शिक्षा पर सरकारी अधिकार पूरी तौर से रखना ही था। शिक्षित भारतवासियों ने इसे सूक्ष्म दृष्टि से देखा और यह परिणाम निकाला कि गवर्नमेएट से यह आशा करना भारी भूल है कि वह ऐसी प्रणाली का अनुकरण करेगी जो राष्ट्रीय प्रगति के वेग को उत्तेजित कर सके, राष्ट्रीय भावों को दृढ़ कर सके, जनता की योग्यता में ऐसी वृद्धि कर सके जिससे वह अपने बल पर खड़ी होने और अंग्रेज़ों के बन्धन से मुक्त होने की इच्छा कर सके।

भारतवासियों और लार्ड कर्ज़न के परस्पर विरोधी उद्देश्य।

भारतवासियों ने देखा कि हम और लार्ड कर्ज़न दोनों परस्पर विरोधी हैं। भारतवासियों का लक्ष्य स्वराज्य और स्वतन्त्रता की ओर था, और लार्ड कर्ज़न का उद्देश्य था दासत्व के समय को बढ़ाना और प्रचलित राजनीतिक अवस्था को स्थिर रखना। हम राष्ट्रीय प्रगति द्रुतगामी बनाना चाहते थे और वह उसे शिथिल करना चाहते थे ताकि हम सदा उनकी आज्ञा पालन करते रहें और उनके शासन तथा दासत्व में रहें। हम आगे बढ़ना चाहते थे और वह हम पर अविश्वास करते थे। हम चाहते थे कि वे हम पर पूरा विश्वास करें, और उन्होंने सन्देह तथा अविश्वास की नीति का अवलम्बन किया था। हम एकता चाहते थे और वह जातियों में विरोध और मनोमालिन्य उत्पन्न करने के उपाय निकालते थे। हम अपनी शक्तियों को सार्वजनिक उद्देश्य-सिद्धि के लिए तैयार रखना चाहते थे और वह हमें विभाजित करना और एक

दूसरे से अलग रखना चाहते थे। हम सबका एकीकरण चाहते थे और उन्होंने पृथक्करण का आरम्भ कर दिया था। हम प्रतिनिधि शासन का विस्तार चाहते थे और लार्ड कर्ज़न ने उन संस्थाओं तथा सुधारों को बदनाम करना आरम्भ कर दिया था जो हम प्राप्त कर चुके थे; और इस प्रकार वह हमें और भी पीछे ढकेलने की चिन्ता में थे।

सन् १९०५ में कांग्रेस का इंगलैण्ड में डेपुटेशन।

भारतीय राष्ट्रीय महासभा के नेताओं ने यह सब देखा। उन्होंने लार्ड कर्ज़न की नीति का दृढ़ता से विरोध किया; निर्भीकता से अपने विचार प्रकट किये; और उन्हें अपने अनुकूल बना कर उनका संरक्षण प्राप्त करने के लिए अपने सभापति को उनके पास भेजा। लार्ड कर्ज़न ने उनसे मिलना अस्वीकार किया और इस प्रकार कांग्रेस को अपमानित किया। वे उनके प्रस्तावों से घृणा करते थे क्योंकि उन्होंने कहा था कि कांग्रेस के प्रस्ताव निरर्थक होते हैं। इससे नेता लोग और क्रुद्ध हुए। अब उन्होंने इस सम्बन्ध में ब्रिटिश जनता से विनय करना स्थिर किया। सन् १९०५ ई० में कांग्रेस का एक डेपुटेशन ब्रिटिश जाति के सम्मुख भारत के कष्टों को प्रकट करने के लिए भेजा गया।

इस डेपुटेशन में गोखले महाशय और इस पुस्तक के मूल-लेखक थे। उन्होंने विलायत में बहुत सी सभाएँ करके व्याख्यान दिये, बहुत से मित्र बनाये और कुछ राजनीतिज्ञों से भेंट की; किन्तु इसके परिणाम की कुछ विशेष आशा उन लोगों को नहीं हुई। उनमें से एक (इसके मूल लेखक) ने वापस आकर एक उद्वेगपूर्ण लेख लिखा जिसमें सब बातें

साफ़ साफ़ कह दी गई थीं। उन्होंने साफ़ कहा कि ब्रिटिश प्रजातन्त्र स्वयं ही अपने झगड़ों में व्यस्त है, वह हमारे लिए कुछ भी नहीं कर सकता। ब्रिटिश समाचारपत्र वाले भारतीय आकांक्षाओं का समर्थन करने के लिए तैयार नहीं थे, इंगलैंड में वहाँ के लोगों को भारतवासियों के कष्ट सुनाने के लिए आकर्षित करना कठिन था और वहाँ कांग्रेस का आन्दोलन एंग्लोइंडियनों के प्रभाव और मर्य्यादा का सामना करने में विफल हुआ। भारत में वापस आने पर जो संदेश वे लाये, वह यह था कि यदि भारतवासी वास्तव में अपने देश का हित करना चाहते हैं, तो उनको स्वयं ही अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ना होगा और अपनी उत्सुकता या तत्परता का असन्दिग्ध प्रमाण देना होगा—

उनका (लाला लाजपतराय का) संदेशा ह्यूम साहब के सन् १-८२ वाले उस संदेशे से कुछ भी भिन्न नहीं था जो उन्होंने कलकत्ता यूनीवर्सिटी के विद्यार्थियों को सुनाया था और जो उनकी The Star of the East और The old man's helps नामक पुस्तिकाओं में दिया गया था।

सन् १९०५ वाली कांग्रेस।

यह पहला ही अवसर था जब कि एक भारतीय प्रजा-हितैषी ने इस ज़ोरों से अपना मत प्रकट किया था। उनकी भारत में अनुपस्थिति के समय बंगाल में स्वदेशी का प्रचार और विदेशी बहिष्कार शुरू हो चुका था। गोखले महाशय भी बहिष्कार से सहमत थे और इसे राजनीतिक हथियार मानते थे; इसलिए उनका संदेश लोगों ने उत्साह से सुना।

सन् १९०५ के बनारस वाले कांग्रेस-अधिवेशन ने विवरणों

के मिलान करने और कार्यक्रम निश्चित करने का अवसर दिया। गोखले महाशय का अपूर्व स्वागत और विषयनिर्धारिणी समिति की उत्साहपूर्ण बैठकों से जनता के विचारों का यथेष्ट परिचय मिला था। गोखले महाशय सतर्क और सावधान पर उत्साहपूर्ण थे। उनका अध्यक्षवाला संभाषण शान्त विचारों से युक्त होने पर भी उत्तेजक था। उनके बम्बई के साथी उन्हें आगे बढ़ने नहीं देना चाहते थे। विषय निर्धारिणी समिति की पहली ही बैठक से यह प्रतीत होता था कि विभेद अवश्यंभावी है और कार्यक्रम नियमानुसार सर्व सम्मति और एक चित्तता से पूरा न होगा। कांग्रेस के पुराने नेतागण एक होकर काम करने के अभ्यस्त थे किंतु नई जाग्रति के लोगों ने उन्हें कायल करा दिया कि पुराने ढंग की सर्व-सम्मति और एकता अब असम्भव है।

विषय निर्धारिणी समिति की पहली बैठक समाप्त हो जाने पर भी भारत में युवराज (वर्तमान सम्राट्) की भारतयात्रा के समय उनके स्वागत का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास न हो सका। विपक्षी लोग कांग्रेस में इसका विरोध करने की धमकी देने लगे। स्वागतसमिति और पुराने नेतागण बिगड़ गए। उन्होंने इसका बदला लेने की धमकी दी और उसके दुष्परिणाम बत-लाए पर युवक कुछ नहीं सुनते थे। दूसरे दिन प्रातःकाल उनसे अपना विरोध वापस ले लेने के लिए कहा गया पर बंगाल के युवकों ने राजी होना स्वीकार न किया।

गोखले महाशय ने तब अपने पंजाबी और मराठे नेताओं से अपील की और उन्होंने बंगाली मित्रों को सभा में अनुप-स्थित हो जाने और उनकी अनुपस्थिति में प्रस्ताव पास कर ले देने के लिए राज़ी किया। स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय

शिक्षा संबंधी प्रस्तावों पर विवाद हुआ और अन्त में आपस में समझौता हो गया और राष्ट्रीय दलवालों के सिद्धांतों की कुछ न कुछ जीत ही हुई।

कांग्रेस पंडाल में युवक समाज ने भावी कार्यक्रम निश्चित करने के लिए एक सभा की। इसी समय तिलक महोशय ने (शांतिमय प्रतिकार) सत्याग्रह पर अपने विचार प्रकट किये थे। कोई नियमानुसार प्रस्ताव तो पास नहीं हुआ था, पर उपस्थित सज्जनों में से विज्ञ पुरुषों ने सरकारी नौकरी और अर्ध-सरकारी संस्थाओं का बहिष्कार करके आत्मनिर्भरता के सिद्धांत का अवलम्बन करना निश्चित कर लिया और इस प्रकार एक नवीन युग का प्रारम्भ कर दिया।

शान्तिमय प्रतिकार या सत्याग्रह आन्दोलन के उद्देश्य।

इस आन्दोलन के उद्देश्य दो थे—(१) उस मोह को नष्ट करना जिससे देश और जनता का न केवल शासकों की अपार शक्ति में वलिक उनकी परोपकारवृत्ति में अटल विश्वास हो गया था। राष्ट्रीयदल के एक नेता श्रीयुत विपिन चंद्रपाल के कथनानुसार जनता पर ऐसा जादू डाला गया था कि उसे विश्वास हो गया था कि हमारे विदेशी शासक हमारा कल्याण और उन्नति ही चाहते हैं।

"सभ्य कूटनीति की कुटिल चालों से प्रजा के अनभिज्ञ होने के कारण जो कुछ उनके शासकों ने अपनी प्रजा अथवा अपने लिए कहा, उसे उसने ईश्वर वाक्य समझ कर विश्वास कर लिया। उनसे यह कहा गया था कि भारत की जनता अपना प्रबंध स्वयं करने के योग्य नहीं है। इसे सत्य समझ कर उसने इसमें विश्वास कर लिया। उनसे कहा गया कि
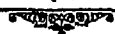
जनता निर्बल और गवर्नमेण्ट बलवान् है। भारत मनुष्यता की अधम श्रेणी में स्थित है और इंग्लैंड यहाँ के, अर्ध असभ्य निवासियों को सभ्य बनाना चाहता है"। राष्ट्रीय दलवालों ने इन समस्त दोषारोपणों की असत्यता प्रामाणित करने का भार अपने ऊपर लिया। उन्होंने जनता को उसके बल और योग्यता का ज्ञान कराया और उसको मोह निद्रा से जागया।

राष्ट्रीय आन्दोलन का दूसरा उद्देश्य लोगों में स्वतंत्रता का उत्कट प्रेम, और उसके साथ आत्मत्याग और देश के कार्यों के लिए कष्ट सहने की तत्परता के भावों को पैदा करना था। यह काम केवल ज़बानी नहीं हो सकता था। और इसके लिए लोगों के सामने उदाहरण उपस्थित करने की आवश्यकता थी। यहाँ हम श्रीयुत विपिन चंद्रपाल के शब्दों में ही यह बतलाते हैं कि राष्ट्रीय दल का उस समय का कार्य-क्रम क्या था:—

"आर्थिक तथा राजनीतिक बहिष्कार, विदेशी विशेष कर अंग्रेज़ी माल का बहिष्कार, शासन सम्बन्धी अवैतनिक पदों का वहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा अर्थात् सरकारी विश्वविद्यालयों, स्कूलों, कालेजों से जाति के युवकों को हटाकर उन्हें उन संस्थाओं में भरती करना जो राष्ट्रीय पद्धति द्वारा शासित होती हों और राष्ट्र ही के अधीन हों तथा राष्ट्रीय इष्ट सिद्धि में सहायता पहूँचा सकें, राष्ट्रीय स्वयंसेवा अर्थात् जनता को उन नागरिक कर्त्तव्योंमें लगाना जो आजकल सरकारी या अर्धसरकारी नौकरी करते हैं और बिना किसी कानून को भंग किए उनको इस काम की शिक्षा देना। उदाहरणार्थः—गाँवों का स्वास्थ्य सुधारना, लोगों के आर्थिक तथा शारीरिक कष्ट दूर करना, सुबोध शिक्षा का प्रचार करना, लोगों की रक्षा के लिए पुलिस का काम करना, मेलों तमाशों और यात्रियों की भीड़

आदि का प्रबन्ध करना, दीवानी और ऐसे फ़ौजदारी मुकद्मों का निपटारा करना जिनमें सरकार हस्तक्षेप न कर सकती हो, और ऐसे मुकद्मों के फैसले के लिए पंचायतें आदि स्थापित करना। बस यही राष्ट्रीय दल का उद्योग और यही उसकी कार्य-प्रणाली निश्चित हुई थी। श्रीयुक्त विपिन चन्द्रपाल के ही कथनानुसार इस कार्यक्रम का उद्देश्य इस प्रकार था—

इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य यह था कि जनता में प्रथमतः सहयोग संस्थाओं की सहायता से लोकहित की वृद्धि के लिए नागरिकता के भाव उत्पन्न किये जायँ ताकि वे स्वतन्त्र प्रजा के अधिकारों का भारी और कठिन भार सहन करने के योग्य हो जायँ। दूसरा उद्देश्य समस्त देश को ऐसी उत्साही राजनीतिक संस्थाओं से भर देना था जो नेताओं का जनता से सीधा और अचल सम्बन्ध स्थापित करें और उन्हें समय समय पर गवर्नमेण्ट पर जनता की संगठित और उत्साहपूर्ण सम्मति का प्रभाव डाल सकें जिससे सार्वजनिक अधिकारों के विचार में सहायता हो।

यह जानना चाहिए कि बहिष्कार और स्वयंसेवकोंवाले कार्यक्रम के अतिरिक्त ऊपर कहे हुए बाकी कार्यक्रम का प्रत्येक अंश समस्त देश में विशेषकर पंजाब और महाराष्ट्र प्रदेश में काम में लाया गया और कुछ न कुछ सफल भी हुआ था। लोग स्वार्थत्याग करके शिक्षा प्रचार करना चाहते थे और लोगों में राष्ट्रीय भाव उत्पन्न करना चाहते थे, इसीलिए डेकन एजूकेशन सोसायटी और पूने के फर्गुसन कालिज की स्थापना हुई थी। इसी प्रकार स्वदेशी कोआपरेटिव संस्थाएँ तथा निज की पंचायतें आदि भी स्थापित की गई थीं और उनकी आजमाइश हुई थी। ये सब कार्य परोपकार के उद्देश्य से भी किये गये थे

और देशहित के लिए भी। बंगाल में विद्यासागर आदि ने जो कालिज आदि स्थापित किये थे, वे भी इसी उद्देश्य से। व्यापार आदि के कार्यों में तो बम्बई सारे देश से आगे बढ़ गया था। पंजाब में भी स्वदेशी का प्रचार १८७७ से ही आरम्भ हो गया था। इससे लोग अपना आर्थिक लाभ भी करना चाहते थे और देशहित भी। इसीलिए पंजाब में दयानन्द एंग्लो वैदिक कालिज, पंजाब नेशनल बंक तथा भारत इन्श्योरेन्स कम्पनी आदि संस्थाएँ खुली थीं। धर्म और परोपकार की दृष्टि से लोगों ने अनाथालय आदि स्थापित किये थे और अकाल-पीड़ितों की सहायता आरम्भ की थी। अकाल और काँगड़े के भूकम्प के समय कुछ लोगों ने स्वयंसेवक बनकर भी अच्छा काम किया था। १९०५ से बहुत पहले ही पंजाब में अनेक सार्वजनिक संस्थाएँ स्थापित हो गई थीं जिन पर सरकार का प्रायः कुछ भी अधिकार नहीं था। पर इनका उद्देश्य राजनीतिक नहीं था, देशहित और परोपकार आदि ही था।

नौकरशाही इन सब बातों को सहन नहीं कर सकती थी, पर वह इनको दबा भी नहीं सकती थी। कुछ अधिकारी इनके साथ सहानुभूति भी रखते थे और इनको थोड़ी बहुत सहायता भी दिया करते थे। पर इस प्रकार की राष्ट्रीय उन्नति में बंगाल कुछ पिछड़ा हुआ था। पर जब लार्ड कर्जन ने बंगभंग किया, कलकत्ता विद्यालय में भारतवासियों पर अनेक प्रकार के आक्षेप किये और उनको अयोग्य तथा कायर आदि कहा, तब बंगालियों की भी आँखें खुलीं। उन्होंने लार्ड कर्जन से इस बात का बदला चुकाना चाहा और सारे संसार पर यह प्रमाणित करना चाहा कि लार्ड कर्जन झूठे हैं। इसके बाद जो कुछ हुआ, वह आगेके प्रकरणों में बतलाया जायगा।

चौथा प्रकरण।

राष्ट्रीय आन्दोलन का आरम्भिक काल।

बंग विच्छेद।

सन् १९०५ की सोलहवीं अक्तूबर को लार्ड कर्जन ने बंगाल के पुराने प्रदेश के दो विभाग कर दिये। उस दिन दोनों विभाजित प्रदेशों की जनता ने घरों में आग नहीं जलाई, उन्होंने नँगे पैर चल कर और नदी-तट तथा तालाबों पर जाकर स्नान किया और अत्यन्त शोक मनाया; और पारस्परिक स्नेह और जातीय एकता सूचित करने के लिए एक दूसरे को राखी बाँधी। उसी वर्ष की ७वीं अगस्त को बंगाल के नेताओं ने कासिमबाजार के महाराजा मणींद्रचंद्र नंदी के सभापतित्व में कलकत्ते के टाउनहाल में एक सार्वजनिक सभा कर प्रस्तावित बंग-भंग के विरोध में ब्रिटिश माल का पूर्णतया बहिष्कार करने की भी घोषणा की।

ब्रिटिश माल का बहिष्कार।

आरंभ में यही विचार था कि केवल कुछ दिनों के लिए

बहिष्कार किया जाय। अतएव बहिष्कार के लिए कुछ समय निर्धारित कर दिया गया। यह बहिष्कार उसी समय तक के लिए था जब तक कि बंग-भंग का कार्य रद्द न हो जाय। एक बंगाली राजनीतिज्ञ का विचार तो केवल ब्रिटिश शिल्पकार को ही कुछ आर्थिक हानि पहुँचाना था जिसमें वह इसको रद्द करवाने के लिए अपनी सहानुभूति और सहायता प्रकट करे। किंतु शीघ्र ही यह जान पड़ा कि यह बहिष्कार शायद देश को विदेशियों के आर्थिक आक्रमण से बचाने के लिए एक लाभदायक आर्थिक शस्त्र का काम दे सकता है।

उक्त राजनीतिज्ञ ने एक अवसर पर लिखा था कि कलकत्ते से भेजे हुए प्रतिज्ञा-पत्र पर बहुत लोगों ने हस्ताक्षर किये थे, किंतु इसी शर्त पर कि जब तक बंग-भंग रद्द न हो जाय। कुछ समय तक तो बहिष्कार का अच्छा फल होता रहा। १९०५ के अक्तूबर महीने में 'लकी डे' के दिन जिस दिन कलकत्ते में मैनचेस्टर के माल की बहुत कुछ खरीद होती थी, कुछ भी सौदा नहीं हुआ। विलायती माल की आमदनी कम होने के साथ ही साथ देश के व्यवसाय की भी बहुत कुछ उन्नति हुई। समस्त देश में हाथ से कपड़ा बुनने का प्रचार हुआ। बंगाल के सिवाय और प्रदेशों ने बहिष्कार की प्रणाली का पूर्णतया तो अनुकरण नहीं किया, पर समस्त देश में स्वदेशी की पुकार मचने लगी जिससे देशी शिल्पकारों में उत्साह का संचार हुआ। बंगाल में, जहाँ स्वदेशी और बहिष्कार का प्रचार अत्यंत अधिक था, बड़े छोटे, धनवान, श्रमजीवी, शिक्षित अशिक्षित इत्यादि सबका इसमें योग देना ही इसके महत्व को सूचित करता है। कुछ समय तक तो इस बहिष्कार का इतना फल हुआ कि कलकत्ते के इंगलिशमैन

नामक एंग्लो-इंडियन समाचार पत्र ने कहा कि यह नितांत सत्य है कि कलकत्ते के गोदाम देशी कपड़ों से इतने भर गए थे कि उनका बेचना असंभव सा हो गया था। बहिष्कार के शुरू के दिनों में साधारणतः यह कहा जाता था कि कपड़ों के व्यवसाय में इस बहिष्कार या किसी अन्य आर्थिक कारण से ह्रास हुआ है।

बहुत से मारवाड़ी व्यवसायियों का तो मानों सर्वनाश ही हो गया था और विलायती माल मँगानेवाले कुछ युरोपियन व्यापारियों को या तो कपड़े का कारबार बिलकुल बन्द कर देना पडा था और या पहले की अपेक्षा बहुत ही कम कर देना पड़ा था। गुदामों में माल भी इतना अधिक हो गया था कि मारवाडी और दूसरे व्यापारियों को जिन्होंने पहले ही से आर्डर दे दिये थे, अब माल को छुड़ाने में अपनी असमर्थता प्रकट करनी पड़ी थी। यह बातें इतनी प्रसिद्ध हैं कि इनको छिपाना नितांत अनावश्यक है और अब वह समय आ गया है जब लोगों पर यह बात भली भाँति प्रकट कर देनी चाहिए कि विदेशी व्यापार को इस बहिष्कार से कैसी हानि पहुँची है। अब तो बहिष्कार करनेवालों को उत्साहित करने का तो प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि उनको उत्साहित करने की आवश्यकता ही नहीं रही। अब तो विलायत की जनता और भारतीय गवर्नमेंट को पूर्णतया यह बात बतलाने की आवश्यकता है कि शासन के विरोधियों को देश में ब्रिटिश हित को हानि पहुँचाने के लिए बहिष्कार ही एक प्रभावशाली अस्त्र मिल गया है।

इङ्गलिशमैन नामक समाचारपत्र के एक लेख के उपसंहार में दिए हुए निम्नलिखित वाक्य ही बहिष्कार करनेवालों की विजय का पता देते हैं—"प्रश्न यह है कि अब गवर्नमेंट इसके

लिए क्या करना चाहती है। बहिष्कार को प्रचलित न रहने देना चाहिए, नहीं तो यह ब्रिटिश और भारत के पारस्परिक संबंध को नष्ट करने में सशस्त्र विद्रोह से भी बढ़कर घातक होगा।"

गवर्नमेण्ट का प्रत्युत्तर।

इस आंदोलन के उत्तर में जिसमें समस्त बंगाल (जिसमें इस समय के नरम दलवाले भी शामिल थे) एकता के सूत्र में बँध गया था, गवर्नमेण्ट ने उन विद्यार्थियों के साथ जिन्हें बहिष्कार करनेवालों ने अपने काम में लगाया था, एक धर्म-युद्ध करने की ठानी। नौकरशाही के विचार में ये ही विद्यार्थी स्वदेशी के प्रचार में अत्यन्त उत्साह से कार्य करते थे। बिपिन चन्द्रपाल का कथन है कि "बहिष्कार की सफलता विशेष कर आरंभ में उस समय तक जब तक कि जनता के अन्तः-करण और ज्ञान पर उसका पूर्ण प्रभाव नहीं पहुँच गया, प्रायः सर्वथा विद्यार्थियों के धरना देने ही पर निर्भर थी।" वे हमें विश्वास दिलाते हैं कि इस प्रणाली में सर्वथा समझदारी और नीति से ही काम लिया जाता था और इसमें धमकी, जबर-दस्ती आदि बिलकुल न थी और न कोई ऐसी बात थी जो पाश्चात्य देशों की उद्दण्ड जनता के धरने या पिकेटिंग में देखने में आती है। पर अंगरेज लोग यह बात नहीं जानते थे। इसका मतलब चाहे कुछ भी हो, पर इसमें संदेह नहीं कि गवर्नमेण्ट पिकेटिंग या धरना नहीं चाहती थी। वह इसका साथ न दे सकती थी, इससे इस प्रकार के आन्दोलन को बढ़ने देना नहीं चाहती थी। उसका पहला कार्य यह था कि उसने युवक विद्यार्थी समाज को राजनैतिक आन्दोलन में

सम्मिलित होने से रोक दिया। जो विद्यार्थी साधारण सभाओं में जाते, उनको अनेक प्रकार के दंड मिलते थे। यहाँ तक कि स्कूल, कालेज या विश्वविद्यालय से निकाल देने की भी धमकी दी जाती थी।"

वंगालियों का दूसरा कार्य—एक राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय।

इस पर वंगाली नेताओं ने मिल कर एक ऐसा राष्ट्रीय विश्वविद्यालय खोलना निश्चित किया जिसमें शिक्षा प्रदान में गवर्नमेण्ट का किसी प्रकार का अधिकार न हो। लार्ड कर्जन की शिक्षा-सम्बन्धी नीति ने तो पहले ही से जनता का ध्यान इस ओर आकर्षित कर रखा था। वहिष्कार आंदोलन में विद्यार्थियों के सम्मिलित होने पर उनको दंड देने की प्रक्रिया ने इस आन्दोलन की आवश्यकता और भी अच्छी तरह सिद्ध कर दी। समस्त संयुक्त वंगाल ने इस आन्दोलन का, वहिष्कार वाले आन्दोलन की तरह पूर्णतः अनुमोदन किया। इसका नेतृत्व कलकत्ता हाईकोर्ट के भूतपूर्व न्यायाधीश और कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुछ दिनों के वाइस चैंसलर सर गुरुदास बैनरजी पर आ पड़ा, जिनकी राजभक्ति और नम्रभावों के सम्बन्ध में मित्र या वैरी किसी को भी संदेह नहीं हो सकता। इसके सिवा ये लार्ड कर्जन द्वारा नियोजित युनिवर्सिटी कमीशन में भी सम्मिलित थे और इन्होंने उस प्रणाली का, जिनकी कि अधिकतर सभासदों ने स्वीकृती दी थी, विरोध भी किया था। "उन्हीं के नेतृत्व में बंगाल की राष्ट्रीय शिक्षा सम्बन्धिनी काउंसिल ने, सरकारी शिक्षा का विरोध करने के लिए नहीं बल्कि सरकारी हस्तक्षेप से स्वतन्त्र रहने लिए काय करना

निश्चय किया। यह स्वाधीन उद्योग इसलिए न्याय संगत था कि सरकारी निरीक्षण में जो शिक्षा दी जाती थी वह जनता के विचार, भाव, संस्था, धर्म और शारीरिक एवं भौतिक परिस्थिति को देखते हुए कुछ भी उपयुक्त न थी। इस नवीन आन्दोलन का उद्देश्य यह था कि राष्ट्रीय ढंग से स्वतन्त्रता-पूर्वक वैज्ञानिक, साहित्यिक और व्यावसायिक शिक्षा देने का प्रबन्ध किया जाय। नेशनल काउंसिल ऑफ़ एजुकेशन ने साहित्यिक, वैज्ञानिक और व्यावसायिक शिक्षा के लिए उचित प्रबंध करके अंगरेज़ी भाषा को गौण भाषाओं में स्थान दिया; और मुख्य स्थान बंगाली तथा संस्कृत को और मुसलमानों के लिए उर्दू फारसी और अरबी को दिया गया था।

बंगाल में राष्ट्रीय शिक्षा संबंधी जो आन्दोलन आरम्भ हुआ था वह किसी प्रकार से गवर्नमेंट का विरोधी आन्दोलन नहीं था। गवर्नमेण्ट की यह धमकी ही कि "यदि कोई विद्यार्थी राजनीतिक सार्वजनिक सभा या जलूस आदि में सम्मिलित होगा या उपस्थित भी होगा तो वह सरकारी स्कूल, कालेज या विश्वविद्यालय में भर्ती न हो पायगा" यद्यपि यही इस आन्दोलन का मुख्य कारण थी तथापि इस आन्दोलन ने अधिकारियों के साथ लोगों के मनमुटाव या विरोध के प्रत्यक्ष कारणों को हटा देना चाहा और गवर्नमेण्ट के हस्तक्षेप से स्वतंत्र रह कर न कि उसका विरोध करके कार्य्य करना निश्चित किया। यद्यपि इसका मूल कारण राजनीतिक ही था तथापि अधिकारियों के विरोध का विचार बिलकुल छोड़ दिया गया था और राजनीति से बिलकुल शून्य रूप धारण किया था।

वे समझते थे कि यदि सरकारी अफसर हम से नाराज हो जायँगे तो फिर हमारा सारा काम ही रुक जायगा। उनको नौकरशाही का बहुत डर था और वे उसकी मरज़ी के खिलाफ़ नहीं चल सकते थे। पर अनुभव से मालूम हो गया कि वे उस समय बड़ी भूल करते थे क्योंकि राजनीति से अलग होने की लाख घोषणा करने पर भी विना नौकरशाही को नाराज किये राष्ट्रीय शिक्षा की कोई व्यवस्था हो ही नहीं सकती थी।

इस राष्ट्रीय शिक्षा पर अन्त में लार्ड कर्ज़न की कुटिल दृष्टि पड़ ही गई और वे ऐसे उपाय सोचने लगे जिनसे भारत-वासियों के विद्यालयों आदि से राष्ट्रीयता के भावों का समूल नाश हो जाय। वे सभी विद्यालयों को सरकार के अधिकार और शासन में लाना चाहते थे। उन्होंने शिमले में शिक्षा सम्बन्धी एक गुप्त सभा की जिसमें एक भी भारतवासी को सम्मिलित नहीं किया। बात यह थी कि वे इस सम्बन्ध में भारतवासियों का विश्वास ही नहीं कर सकते थे। इसीलिए उनको अपने विचार गुप्त रखने की आवश्यकता हुई थी। सरकार समझती थी कि राष्ट्रीय शिक्षा की काउन्सिल सरकार के सिद्धान्तों के बिलकुल विरुद्ध काम कर रही है। इसके बाद लार्ड कर्जन तो चले गये, पर वह नौकरशाही बनी रही जो इन सब बातों में लार्ड कर्जन के विचारों आदि से पूर्ण रूप से सहमत थी। वह बंगालियों को राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार अथवा राष्ट्रीय विद्या-लयों की वृद्धि करने देना नहीं चाहती थी और न उनको सर-कारी शासन अथवा प्रभाव के बाहर रहने देना चाहती थी।

इस परिस्थिति के कारण ही राष्ट्रीय कालेज और उसके साथ सम्बद्ध राष्ट्रीय विद्यालयों का स्वरूप आप से आप राज-नीतिक हो गया। सरकार और नौकरशाही यह नहीं चाहती

थी कि विद्यार्थी भी वहिष्कार आन्दोलन में सम्मिलित हों पर बंगाली नेता विद्यार्थियों को भी उसमें सम्मिलित करना चाहते थे और इसीलिए राष्ट्रीय विद्यालयों की आवश्यकता हुई थी। इस प्रकार मानो सरकार का खुले आम विरोध किया गया था। इस विरोध में अरविन्दघोष सम्मिलित थे और उनके साथ और भी अनेक जोरदार वक्ता तथा लेखक भी थे। ये सब लोग बहुत ही शुद्ध आचरण तथा उच्च विचारोंवाले थे। उन्होंने बहु-मत से दबकर यह तो मान लिया कि कालेज का राजनीति के साथ कोई सम्बन्ध नही है, पर उनको व्याख्यान देने अथवा लेख लिखने से कोई रोक नहीं सकता था। यदि उस समय उनको राजनीतिक विचारों का प्रचार करने से रोका जाता तो राष्ट्रीय शिक्षा का कार्यक्रम ही न चल सकता उन्होंने समाचार पत्र निकालकर और व्याख्यान आदि देकर लोगों में राष्ट्रीय भावों का प्रचार आरम्भ कर दिया। वे जानते थे कि इसका परिणाम क्या होगा और उस परिणाम को सहन करने के लिए भी वे तैयार थे। वे प्रचार कार्य और उसके लिए कष्ट सहन करने को तो तैयार थे, पर बल प्रयोग अथवा उपद्रव आदि करने के लिए तैयार न थे।

राष्ट्रीय समाचार पत्र।

सर्व साधारण में राष्ट्रीय भावों का प्रचार करने के लिए उन्होंने एक अंग्रेजी तथा कई बंगला समाचारपत्रों का प्रकाशन आरम्भ किया। उनमें से बंगला सन्ध्या और अंग्रेजी बन्दे-मातरम का खूब प्रचार होने लगा। कुछ ही महीनों में सारे बंगाल का रंग ही बदल गया। घर घर और सभी अवसरों पर राष्ट्रीयता की लहरें बहने लगीं। सारे देश सम स्तके अंग

राष्ट्रीय भावों और विचारों में परिणत हो गये जगह जगह बन्देमातरम के जयघोष सुनाई पड़ने लगे यहाँ तक कि सरकारी दफ़्तर और गोरों के निवासस्थान भी उस जयघोष से बचने नहीं पाये ।

सभाएँ, समितियाँ और अखाड़े सैकड़ों की संख्या में स्थापित हो गये, जिनमें बंगालियों को अनेक प्रकार के व्यायामों और खेलों की शिक्षा दी जाने लगी । बात यह थी कि मेकाले का अनुकरण करके कुछ अँगरेज बंगालियों को इस बात का ताना दिया करते थे कि वे कायर और भीरु होते हैं। बस उन्हीं लोगों के तानों का उत्तर देने के लिए बंगालियों को ये सब कृत्य करने पड़े थे ।

बंगाल में राष्ट्रीय आन्दोलन ने पूरा पूरा ज़ोर पकड़ा था । एक बार बरीसाल में वहाँ के पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट और कलक्टर लाख प्रयत्न करने पर भी अपने एक मित्र के लिए कमीज का विलायती कपड़ा न खरीद सके क्योंकि दूकानदार लोग बिना राष्ट्रीय तथा बहिष्कार आन्दोलन के नेताओं की आज्ञा के विलायती कपड़े का एक सूत भी नहीं बेच सकते थे। उनके नेता बड़े सदाचारी और प्रभावशाली थे और अपने जिले के बिना ताज के राजा माने जाते थे। नौकरशाही इस बात से बहुत सख़्त नाराज़ हुई। पूर्वी बंगाल के पहले छोटे लाट सर मील्ड फुलर यह अवस्था देखकर मारे क्रोध के पागल हो रहे थे और लोगों का रंगढंग बराबर बदलता जाता था। जहाँ कहीं वे जाते थे, वहाँ कोई उनका आदर-सत्कार भी न करता था । जिस नगर में वे जाते थे, उस नगर में भी लोग बहिष्कार आन्दोलन के नेताओं का यथेष्ट आदर-सत्कार करते थे और उनके भाषण आदि सुनते थे, पर उनकी कोई बात भी न पूछता

था। एक स्थान पर तो उनके पहुँचने पर रेल के कुलियों ने उनका असबाब तक ढोने से इनकार कर दिया था और पुलिस के सिपाहियों को अपने सिर पर उनका असबाब लाद कर पहुँचाना पड़ा था भला ऐसी बातें नवाब फुलर कैसे सहन कर सकते थे।

बहिष्कार करनेवालों के विरुद्ध सैनिक बल का प्रयोग फुलर ने लार्ड कर्जन से परामर्श करके निश्चित किया कि अब लोगों के साथ बल प्रयोग किया जाय। बरीसाल के नेताओं ने एक घोषणा प्रचारित की थी जिसमें कहा गया था कि लोग विलायती माल का बहिष्कार करें क्योंकि यह काम कानून के विरुद्ध नहीं है। पहले एक सौ गोरखे बारीसाल भेजे गये और यह कहा गया कि नेता लोग वह घोषणापत्र वापस ले लें नेताओं ने देखा कि यदि इस समय घोषणापत्र वापस नहीं ले लिया जायगा तो उपद्रव खड़ा होगा। वे उपद्रव खड़ा कराना नहीं चाहते थे, इसलिए उन्होंने वह घोषणापत्र वापस ले लिया। गोरखों ने बरीसाल में फिर भी अनेक प्रकार के उपद्रव किये हो, लेकिन फिर भी नेताओं ने लोगों को बहुत ही शान्त रखा क्योंकि वे यह नहीं चाहते थे कि सरकार को कोई ऐसा बहाना मिले जिससे वह इस आन्दोलन को समूल नष्ट ही कर डाले।

१९०६ के अप्रैल मास में सरकार ने बंगाल की प्रान्तीय महासभा सैनिकों को भेजकर और बन्दूकों के कुन्दों से धमकाकर ज़बरदस्ती भंग करा दी। उस महासभा में बंगाल के प्रायः सभी बड़े बड़े नेता सम्मिलित थे। आठ नौ सौ प्रतिनिधियों और बड़े बड़े नेताओं का जुलूस पुलिस ने ज़बरदस्ती भंग कर दिया और साथ ही मार पीट करके बहुत से लोगों के सर भी

तोड़ दिये, पर फिर भी जनता शान्त रही क्योंकि उसका निश्चय था कि सरकार के बलप्रयोग के विरुद्ध हम लोगों को कभी बलप्रयोग न करना चाहिए। सरकार के लाख उद्योग और बल प्रयोग करने पर भी राष्ट्रीय आन्दोलन दिन पर दिन बढ़ता ही जाता था और छोटे बड़े सभी उसमें सम्मिलित होते जाते थे।

अब बंगाल में एक नये जीवन का संचार हो गया था जिसके चिह्न धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि सभी कार्यों में पाये जाते थे। जो कुछ बंगाल में हो रहा था, प्रायः वही देश के अन्यान्य भागों में भी होता था। थोड़े से पुराने नेता ऐसे थे जिनको राष्ट्रीय दल की ये काररवाइयाँ पसन्द नहीं थीं। कुछ नेता ऐसे भी थे जो पूर्ण बहिष्कार के विरोधी थे, पर फिर भी अधिकांश बातों में सारा देश एकमत था और देश के सभी समझदार इन जीवन प्रद और इन नये राष्ट्रीय भावों को देखकर मन ही मन बहुत प्रसन्न हो रहे थे।

सन् १६०५ में लार्ड मिन्टो के आने पर रंग-ढंग कुछ कुछ बदलने लगा था। पहले पहल १६०६ में कलकत्ते की राष्ट्रीय महासभा के सभापति के सम्बन्ध में राष्ट्रीय दल में कुछ विरोध उत्पन्न हुआ था, पर नये नरमदल के नेताओं ने उस समय बहुत बुद्धिमानी की और परमपूज्य दादा भाई नौरोजी से यह मंजूर करा लिया कि यदि कांग्रेस प्रार्थना करेगी तो हम उसके सभापति हो जायँगे। बस वह झगड़ा वहीं ख़तम हो गया। यद्यपि सिद्धान्तों के सम्बन्ध में नरम और गरमदल के लोगों में थोड़ा बहुत मतभेद था, तथापि दोनों दल परस्पर विरोध करना नहीं चाहते थे और आपस में समझौता करने के लिए तैयार हो गये थे। इसलिए दोनों में समझौता हो गया और उनके अनेक सिद्धान्तों को नरमदल ने मान भी लिया

लेकिन फिर भी लोग यह अवश्य समझते थे कि कभी न कभी दोनों दलों में मतभेद और पार्थक्य होगा ही। अब लार्ड कर्जन के स्थान पर लार्ड मिन्टो बड़े लाट हो गये थे और सरकार की नीति में स्पष्ट रूप से परिवर्तन होने लगा था। लार्ड कर्जन तो केवल दमन करना चाहते थे, पर लार्ड मिन्टो दमन के साथ ही साथ लोगों को कुछ शान्त भी करना चाहते थे। यदि उस समय सरकार बंगाल के दोनों भागों को मिला-कर एक कर देती, जैसा कि अन्त में १९१२ में उसने किया था, तो शायद उसी समय वह आन्दोलन ठण्ढा पड़ जाता पर वह बात नहीं हुई। उस समय सरकार ने उसके दोनों टुकड़े अलग अलग ही रहने दिये और सब बातों में तो सर-कार उस समय रिआयत करने के लिए तैयार थी, पर बंगभंग के सम्बन्ध में वह लोगों की बात मानने के लिए कुछ भी तैयार नहीं थी। इसीलिए उस समय वह आन्दोलन भी न दब सका और बराबर बढ़ता ही गया।

समाचार पत्रों का दबाना।

१९०५, १९०६ और १९०७ के ये तीन वर्ष निष्क्रिय प्रतिरोध के दिन थे। राष्ट्रीय दलवाले उग्र भाषा में सरकार की तीव्र आलोचनाएँ करते थे, अँगरेज़ और उनके माल के विरुद्ध प्रचार कार्य करते थे, और स्वतंत्रता पूर्वक अपनी कलम और जबान से काम लेते थे, पर फिर भी वे किसी प्रकार का बल प्रयोग या उपद्रव नहीं करना चाहते थे। एक के बाद एक इस प्रकार अनेक सम्पादक तथा प्रकाशक जेल भेजे जाते थे, पर आन्दोलन किसी प्रकार कम नहीं होता था। उस समय सरकार और राष्ट्रीय दल में पूरी खींचा तानी

हो रही थी। भारत के प्रायः सभी भागों में अनेक समाचार पत्रों के सम्पादकों को पकड़ कर कड़ी और लम्बी सजाएँ दी जाती थीं, पर आन्दोलन का ज़ोर किसी तरह रुकता ही नहीं था। सब लोग आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक बहिष्कार का ही उपदेश देते थे और धरना देना फिर से शुरू हो गया था। राजनीतिक मुक़द्मे बिलकुल तमाशा बन गये थे क्योंकि जज राजनीतिक आन्दोलन को दबाने के विचार से ही लोगों को बड़ी बड़ी सजाएँ दिया करते थे। जब किसी पर मुकद्मा चलता था, तब लोग पहले से ही समझ लेते थे कि इसमें अभियुक्त को अवश्य दण्ड मिलेगा, लेकिन फिर भी लोग कानून की मर्य्यादा का पूरा पूरा ध्यान रखते थे। नेताओं के साथ हिरासत में, मुकद्मे के दौरों में और सजा होने पर जेल में बहुत ही अनुचित तथा निन्दनीय व्यवहार किया जाता था, लेकिन फिर भी लोग बलप्रयोग करने के लिए कभी उत्तेजित न होते थे। राजनीतिक कैदियों का देश में खूब आदर सम्मान होता था और उनके कार्यों आदि का यथेष्ट गौरव किया जाता था, पर बल प्रयोग आदि करने का विचार भी किसी के मनमें उत्पन्न नहीं होता था।

लाला लाजपतराय का निर्वासन।

पर १६०७ में लाला लाजपतराय के निर्वासन के कारण लोगों के विचारों और कार्यों का रुख एक दम बदल गया। राष्ट्रीय दल के कुछ लोगों ने समझा कि उस निष्क्रिय प्रतिरोध के साथ साथ हमें गुप्त रूप से भी प्रचार कार्य करना चाहिए और बलप्रयोग का उत्तर बलप्रयोग से देना चाहिए। स्वर्गीय मि० गोखले ने लाला लाजपतराय के निर्वासन के

उपरान्त बड़े लाट की काउन्सिल में कहा था कि लाला लाजपतराय धर्म, समाज और शिक्षा क्षेत्र में बड़े भारी सुधारक का काम करते थे। सारे देश में उनका बहुत अधिक आदर सत्कार होता था। राष्ट्रीय दल के लोग उनको अपना नेता समझते थे और नरमदल के लोग उनको बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। सर्व साधारण भी उनके कार्यों के कारण उनका बहुत मान करते थे, पर सरकार ने इनको एकाएक पकड़ लिया और इन पर बिना मुकदमा चलाये ही इनको निर्वासित कर दिया, इसीलिए राष्ट्रीय दल के युवक बहुत बिगड़ गये हैं; यहाँ तक कि राष्ट्रीय दल के जो लोग बहुत ही शान्त और विचारशील थे, वे भी सरकार के इस कार्य से बहुत ही दुःखित तथा निराश हो गये हैं।

पर लाला लाजपतराय के निर्वासन से सारे देश के एंग्लो इण्डियन समाचार पत्र बहुत ही प्रसन्न थे। लाहौर के ही अर्ध सरकारी गोरे समाचार पत्र ने लिखा था कि लाला लाजपतराय एक बहुत ही गहरे क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेता और संचालक थे और उस आन्दोलन का सारा काम उन्हीं की देख रेख में होता था। कहा जाता था कि एक लाख क्रान्तिकारी उनके अनुयायी हैं। कलकत्ते के इंग्लिशमैन में उन पर यह अभियोग लगाया था कि उन्होंने सरकारी सेना में बगावत फैलाने का उद्योग किया था और अफगानिस्तान के अमीर को भारत पर आक्रमण करने के लिए उत्तेजित किया था। एक तो सरकार ने लाला लाजपतराय को बिना किसी कसूर के निर्वासित कर दिया और दूसरे ये गोरे समाचारपत्र उन पर तरह तरह के निर्मूल और निन्दनीय आक्षेप करने और घृणित अभियोग लगाने लगे, इससे भारतवासियों का क्रोध

बहुत ही बढ़ गया। सब लोगों ने सरकार के इस कार्य की एक स्वर से घोर निन्दा की। सब लोग आपस का मतभेद भूल कर सरकार के इस काम की तीव्र आलोचना करने लगे। राष्ट्रीय दल के कुछ मनचले युवकों ने एक कदम और आगे रखना चाहा। उन्होंने बलप्रयोग करने का विचार किया और सोचा कि गुप्त युद्ध करके और रिवाल्वर चलाकर सरकार के ऐसे अत्याचारों का बदला चुकाना चाहिए। वयस्क लोग यद्यपि उनके साथ सहानुभूति तो रखते थे, पर फिर भी वे उस आन्दोलन में सम्मिलित होना नहीं चाहते थे जो बल प्रयोग करने के पक्ष में था और न उन्होंने कभी बल प्रयोग करने की स्वीकृति ही दी थी।

सम्भव है कि १९०६ में ही बंगाल में कुछ गुप्त सभाएँ बन गई हों, पर उनके सदस्यों में बल प्रयोग का विचार तभी उठा जब मई १९०७ में लाला लाजपतराय का निर्वासन हुआ। पहली गोली दिसम्बर १९०७ में और पहला बम अप्रैल या मई १९०८ में चला था। दिसम्बर १९०७ में सूरत की कांग्रेस में जो मतभेद हुआ था, उसके कारण राष्ट्रीय दल दो भागों में विभक्त हो गया था और युवक दल बलप्रयोग करने का पक्षपाती हो गया था। गरम दल वालों को यह पता चला कि कांग्रेस में जो मतभेद हुआ है, वह सरकार के ही कारण हुआ है। कुछ ही महीनों के अन्दर सब बड़े बड़े नेता पकड़ कर जेलों में ठूंस दिये गये। सूरत में लाला लाजपतराय नरम दल में मिल गये थे, इसलिए कुछ दिनों तक वे तो बचे रहे, पर प्रसिद्ध महाराष्ट्र नेता लोकमान्य तिलक पकड़ कर छः वर्ष के लिए निर्वासित कर दिये गये। अरविन्द घोष भी पकड़े गये और सरकार के साथ युद्ध करने के अपराध में गिरि-

फ़्तार कर लिये गये। पर पीछे से कोई प्रमाण न मिलने के कारण वे छोड़ दिये गये। विपिन चन्द्रपाल को भी छः महीने की सजा हो गई। मद्रास के एक नेता चिदम्बरन पिल्ले छः वर्ष के लिए और संयुक्त प्रान्त के मौलाना हसरत मोहानी एक वर्ष के लिए जेल भेज दिये गये। दिसम्बर १६०८ में बंगाल के नौ नेता अपने अपने घर में सरकार की आज्ञा से पकड़ लिये गये और बिना मुकदमा चलाये ही क़ैद कर लिये गये।

असंतोष ऊपर से दबा दिया गया।

जो असन्तोष अब तक स्पष्ट रूप से प्रकट किया जाता था, वह सरकार की इन कार्रवाइयों से ऊपर से तो दब गया परन्तु आग अन्दर ही अन्दर सुलगने लगी। अपने नेताओं के पकड़े जाने से युवक दल निराश नहीं हुआ बल्कि और भी बिगड़ गया और उसने कई सरकारी अफसरों की हत्या करने का उद्योग किया। बंगाल के छोटे लाट की जान लेने का तीन बार उद्योग किया गया और एक बार तो दिन में ऐसे समय उद्योग किया गया जब कि वे एक सरकारी दरबार कर रहे थे। अहमदाबाद में बड़े लाट मिण्टो की हत्या करने का भी एक बार उद्योग किया गया था। तत्कालीन भारत सचिव लार्ड मार्ले के राजनीतिक मन्त्री की लण्डन में हत्या हुई और नासिक के कलक्टर की हत्या हुई। इसके अतिरिक्त सरकारी कर्मचारियों पर और भी अनेक आक्रमण हुए और दूसरे अनेक प्रकार के उपद्रव तथा उत्पात हुए। जिन पुस्तकों आदि को सरकार जब्त कर लेती थी अथवा जिनको वह खराब बतलाती थी, वे पुस्तकें आदि फिर से प्रकाशित होकर गुप्त रूप से बढ़ने लगीं। देश में हथियारों की चोरियाँ होने लगीं

और बाहर से भी हथियार आदि मंगाये जाने लगे। रेलों को नष्ट करने और सरकार को डराने के उद्योग होने लगे। १९०८ और १९०९ में इस प्रकार के उत्पात खूब ज़ोरों से होते रहे १९१० में ये उपद्रव जाकर कुछ कम हुए।

राज्य क्रान्ति की दृष्टि से १९११ में कुछ भी नहीं हुआ उस वर्ष सम्राट् भारत में पधारे थे। उन्होंने दोनों बंगालों को फिर जोड़ दिया और राजधानी कलकत्ते से हटाकर दिल्ली में कर दी। कुछ दिनों तक भारतवासी खूब प्रसन्न थे पर उनकी प्रसन्नता का कारण यह नही था कि दोनों बंगाल मिलाकर एक कर दिये गये थे, बल्कि प्रसन्नता का कारण यह था कि राष्ट्रीय दल को अपने उद्योग में सफलता हुई थी।

लार्ड हार्डिंज़ पर बम।

दिसम्बर १९१२ में क्रान्तिकारियों ने फिर अपने अस्तित्व का परिचय दिया। जिस समय बड़े लाट लार्ड हार्डिंज़ का हज़ारों सैनिकों और लाखों दर्शकों के बीच में से जुलूस निकल रहा था, उस समय भारत की नई राजधानी दिल्ली में उनपर बम फेंका गया था। लार्ड हार्डिंज़ बुरी तरह घायल हुए, उनके साथ के कुछ लाग मारे गये, पर जुलुस रुका नही, वह अपने निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचा ही। सरकार ने बड़े बड़े इनाम मुकर्रर किये और पुलिस ने बहुत उद्योग किया पर अपराधी का आज तक कुछ भी पता न चला। क्रान्तिकारियों का यही सबसे बडा काम समझा जाता है। १९१३ और १९१४ में भी क्रान्तिकारी दल अपना कुछ न कुछ काम करता रहा और युद्ध काल में भी उसके थोड़े बहुत प्रमाण मिलते ही रहे।

इस समय देश की यह दशा है कि सरकार जितना ही

दमन करती है और लोगों को जितना ही दण्ड देती है, उतना ही वे बदला चुकाने और कष्ट सहने के लिए तैयार होते हैं। अब आन्दोलन का प्रचार सर्व साधारण में हो गया है और भारत की योद्धा जातियाँ असन्तुष्ट हो रही हैं। सन् १९०७ में लाला लाजपतराय पर सेना को भड़काने का जो अपराध लगाया गया था, वह बिलकुल निरर्थक था। उस समय पंजाब सरकार ज़मीन के सम्बन्ध में एक कानून पास करना चाहती थी, और उस कानून के कारण वहाँ के कुछ लोगों में थोड़ा बहुत असन्तोष अवश्य था पर जब कि वह कानून पास नहीं हुआ तब वह असन्तोष दूर हो गया पर उसके बाद और अनेक कारण उत्पन्न हो गये जिनसे सर्व साधारण के अतिरिक्त सैनिक जातियों में भी असन्तोष उत्पन्न हो गया। सिंगापुर के भारतीय सैनिकों का विद्रोह और पंजाब की कुछ घटनाएँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

पाँचवाँ प्रकरण।

राष्ट्रीय दलवालों के प्रकार।

अब हम लोग यह बतलाना चाहते हैं कि भारत में राष्ट्रीय दलवाले कितने प्रकार के हैं। पर इससे पाठकों को यह न समझना चाहिए कि भारत के राष्ट्रीय दल में एकता का अभाव है। सबका अन्तिम उद्देश्य एक ही है। इस समय जो लोग पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते हैं, यदि उनको इस बात का वचन मिल जाय कि शीघ्र ही भारत को साम्राज्य के अन्दर पूर्ण स्वराज्य मिल जायगा, तो वे भी सन्तुष्ट हो सकते हैं। पर जैसा कि सभी देशों में होता है, लोगों के काम करने के प्रकार भिन्न भिन्न हैं। एक दल बलप्रयोग करना चाहता है। और दूसरा शान्तिपूर्वक काम करने के पक्ष में है। नीचे के वर्णन से पाठकों को मालूम हो जायगा कि भिन्न भिन्न दलों के लोगों के विचार कैसे हैं।

गरम दल।

पहले हम गरम दल को लेते हैं। उनमें से कुछ ऐसे हैं, जो ब्रिटिश सरकार को कोई चीज़ ही नहीं समझते। उनका विश्वास है कि भारत सरकार की स्थापना बिलकुल बलप्रयोग और छल से हुई है। इसीलिए वे सरकार के साथ बल और छल करना चाहते हैं। जो लोग भारत सरकार की नौकरी करते हैं अथवा और किसी प्रकार से उसके साथ सह-

योग करते हैं, उनको भी वे सरकार के समान ही अपराधी समझते हैं। वे न तो ब्रिटिश कानूनों को मानते हैं और न ब्रिटिश अदालतों को। वे समझते हैं कि राष्ट्रीयता की दृष्टि से हमें इस बात का पूरा अधिकार है कि जो हमारे काम में बाधक हो, उसे हर तरह से हमें अपने मार्ग से हटाकर दूर कर देना चाहिए। वे भारत सरकार के प्रत्येक सहायक के विरोधी तो हैं, पर वे उन सब पर आक्रमण करना नहीं चाहते। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की है पर फिर भी वे जिनको देशद्रोही समझते हैं, उनके साथ वे बहुत बुरी तरह से पेश आते हैं। वे अपने आपको भारतवासियों पर कर लगाने के भी अधिकारी समझते हैं। वे बलप्रयोग करके दूसरों को अपने इच्छानुसार भी चलाना चाहते हैं। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के साथ युद्ध की घोषणा कर दी है, इसलिए वे यह भी समझते हैं कि हमें सरकार के खजानों तथा सपत्ति आदि को लूटने और नष्ट करने का भी अधिकार है। जो भारतवासी स्वेच्छापूर्वक धन से उनकी सहायता नहीं करते, उनकी सम्पत्ति को लूट लेने के पक्ष में भी वे हैं। इसीलिए वे डकैत या डाकू कहलाते हैं।
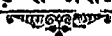
थोड़े से अराजक।

ऐसी डकैतियाँ करनेवाले दो प्रकार के हैं। जिन लोगों को नीति या धर्म का कुछ भी ख़याल नहीं है, वे निहलिस्ट या अराजक कहलाते हैं। उनकी संख्या पहले ही बहुत कम थी, पर अब तो बिलकुल ही नहीं है'। वे अपने स्वार्थ के लिए तो कुछ भी उपद्रव नहीं करते थे, पर देश के हित के लिए वे सब कुछ करने को तैयार रहते थे। उनमें से कुछ ऐसे भी थे जो

अधिक भाव रखकर ऐसे काम करते थे और काली के उपासक थे।

धर्मशील गरमदल।

इस दल के लोगों का यह विश्वास रहा है कि ब्रिटिश सरकार हमारे देश की भी शत्रु है और हमारे धर्म की भी। यों तो वे विधर्मियों के साथ स्पर्श भी नहीं करना चाहते, पर जो उनके धर्म पर आघात करता हो, उसके प्राण तक लेने के लिए वे तैयार रहते हैं। वे अपनी मातृभूमि को देवी समझते हैं और उसी को सबसे बढ़कर समझते हैं। इस दल का वर्णन श्रीयुत विपिन चन्द्रपाल ने अपनी एक पुस्तक में इस प्रकार किया है।

मातृपूजक दल।

इनकी सृष्टि बंकिमचन्द्र के कारण हुई है जिन्होंने यह बतलाया था कि भारतवासियों की भिन्न भिन्न देवियाँ राष्ट्रीय विकास की भिन्न भिन्न अवस्थाओं की सूचक हैं। जगदात्रि यह मातृ भूमिका प्रारम्भिक रूप है। इसका ध्यान है। हाँ शेर पर सवार और हाथी सामने पड़ा हुआ यह उस समय की मूर्ति है जब कि लोग पहले पहल जंगल साफ़ करने में लगे थे। काली जो रंग में काली है और उसके गले में मुण्डमाला पड़ी है यह माला माता के उन बच्चों के सिरों की है जो अकाल और दरिद्रता आदि के कारण नष्ट हो गये हैं। उसके सामने लाशों को गीदड़ नोचते हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि सबका नाश हो गया है। उसके सामने शिवजी खड़े हुए हैं जिसका अर्थ यह है कि वह अपने देवता

को ही अपने पैरों से कुचल रही है। दुर्गा दस सिरोंवाली दुर्गा जिसके हाथ में तलवार और भाला है और जो लोगों को उत्साह दिलाती है, शेर पर सवार होकर राक्षसों से लड़ रही है। उसके एक ओर सरस्वती और दूसरी ओर लक्ष्मी विराजती है। वंकिमचन्द्र का कथन था कि जगदात्री तो मातृभूमि का आरम्भिक रूप था, काली वर्तमान रूप है और दुर्गा भावी रूप। इस व्याख्या के कारण बंगाल के धार्मिक व्यक्तियों के मनमें एक नये भाव का संचार हो गया है। और वे अपने अपने विचारों के अनुसार इसी व्याख्या के अनुरूप मातृभूमि के पूजन और कल्याण में लग गये हैं। इस व्याख्या के कारण लोगों में राष्ट्रीयता का एक बिलकुल नया ही भाव उत्पन्न हो गया है।

वेदान्त ।

देवी की इस नई व्याख्या के साथ कुछ दार्शनिक भाव भी मिले हुए हैं। कुछ लोगों ने नई राष्ट्रीयता में अपने पुराने वेदान्त को भी मिला दिया है। यद्यपि भारत में वेदान्त की अनेक शाखाएँ हैं, तथापि एक सिद्धान्त ऐसा है जो सभी शाखाओं में समान रूप से पाया जाता है। वह सिद्धान्त यह है कि जीव और ईश्वर एक ही हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार एक ही तत्व या भूत भिन्न भिन्न रूप धारण करता है। जीवात्मा ब्रह्म का ही एक अंश या रूप है। ब्रह्म से ही सृष्टि का आरम्भ और विकास होता है। मानव विकास का अन्तिम उद्देश्य मुक्ति या मोक्ष है। इस सिद्धान्त के माननेवाले यह चाहते हैं कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से ऐसा संघटन होना चाहिए जो प्रत्येक मनुष्य की आत्मिक उन्नति में सहायक

हो। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को जो आत्मिक भाव प्राप्त हुआ है, वह इसी सिद्धान्त के कारण हुआ है।

इस सिद्धान्त का नये और वर्तमान रूप में प्रचार करनेवाले स्वामी विवेकानन्द माने जाते हैं। उन्हीं की कृपा से लोगों की पुरानी संकीर्णता दूर हुई है और उनमें नवीन उदार भावों का प्रचार हुआ है। जाति आदि के सम्बन्ध के पुराने कठोर बन्धन भी इसी कारण कुछ ढीले हुए हैं। अब सब जातियाँ मिलकर एक राष्ट्र संघटित करने का उद्योग कर रही हैं। जिन लोगा ने पुराने कट्टर आचारों और विचारों को शिथिल करके उन्हें वर्तमान आवश्यकता के अनुसार शिथिल अथवा उदार करने का उद्योग किया है, उनके कार्यों का समर्थन करने के लिए अनेक प्रकार के मार्ग ढूँढ़े जाते हैं और अन्त में यह मान लिया जाता है कि वे महात्मा हैं और जाति पाँति के बन्धनों से स्वयं मुक्त होकर दूसरों को मोक्ष दिलाना चाहते हैं। इन सब बातों से यह पता चलता है कि धार्मिक पुरुषों में भी राष्ट्रीयता के भावों का किस प्रकार प्रचार हो रहा है।

बंगाल के अधिकांश राष्ट्रीय दलवाले या तो माता के उपासक हैं और या इसी प्रकार के वेदान्ती। वे अराजक या उपद्रवी नहीं हैं, बल्कि वे ऐसे देशभक्त हैं जो राजनीति को भी धार्मिक क्षेत्र में ले आये हैं। उनके धार्मिक विचार उनकी देशहितैषिता के लिए बहुत ही उपयुक्त होते हैं और उन्हें देश सेवा के लिए उत्तेजित करते हैं। वे देश सेवा को अपना धर्म समझते हैं और उसके लिए सब प्रकार के कष्ट सहने को तैयार रहते हैं। वे बहुत ग़रीबी से रहते हैं और बिलकुल त्यागियों की भाँति अपना जीवन व्यतीत करते हैं। वास्तव में

वे लोग बहुत ही सच्चे, सदाचारी औरप्रतिष्ठित हैं और सांसारिक दुर्व्यसनों अथवा दोषों आदि से बहुत दूर रहते हैं।

मानिकतल्ला दलके बारीन्द्र और उनके साथी इसी दल के लोग थे। ये सब लोग परम आस्तिक थे। जिसने बंगाल के पहले सरकारी गवाह की हत्या की थी, वह ब्रह्म समाजी था। उनमें कुछ मुसलमान और ईसाई भी थे। स्वर्गीय ब्रह्मवन्धु बन्धोपाध्याय किसी समय इसाई थे। उन दिनों भारत के प्रायः सभी भागों में इन लोगों के अनुयायी पाये जाते थे।

संघटित विद्रोह के संचालक।

इसके बाद वे लोग हैं जो यह समझते हैं कि कुछ व्यक्तियों की हत्याएँ करने अथवा डाके डालने से कुछ नहीं हो सकता। वे देशद्रोहियों पर दया तो नहीं करना चाहते, पर वे सरकारी कर्मचारियों की हत्या नहीं करते और न किसी का धन लूटते हैं। वे चाहते हैं कि संघटित विद्रोह हो और सेना को भड़का कर अपनी ओर मिला लिया जाय। इस विद्रोह के लिए तो वे सब कुछ करने को तैयार हैं, पर साधारण लूट पाट या हत्या आदि के पक्ष में वे बिलकुल नहीं हैं।

हरदयाल।

लाला हरदयाल के विचार भी किसी समय ऐसे ही थे पर गत महायुद्ध के बाद से उनके ये विचार बिलकुल बदल गये हैं। और उनको अपनी भूल मालुम हो गई है। इनके जीवन और विचारों का विकास भी बड़ा ही विलक्षण और मनोरंजक है। ये दिल्ली के कायस्थ हैं। और इन्होंने ईसाइयों के स्कूल में शिक्षा पाई थी। १६०३ में ये लाहौर में एम० ए० हुए

थे और परीक्षा में सबसे पहले आये थे। अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य में ये बड़े ही प्रवीण हैं। एक समय था जब कि इनके विचार केवल भारतीय राष्ट्रीयता तक ही संकुचित नहीं थे और ये विश्वप्रेमी थे। इनके मत में सारे संसार के कल्याण के विचार चक्कर लगाया करते थे। इसके बाद इनको सरकार से वृत्ति मिली और ये विद्याध्ययन के लिए इंगलैण्ड चले गये। पर तमाशा यह है कि भारत में तो इनके विचार राष्ट्रीय हुए नहीं और विलायत जाकर इनके विचार राष्ट्रीय हो गये। वहाँ जाकर इनको विश्वास हो गया कि अंग्रेज लोग भीतर ही भीतर सब प्रकार से भारतवासियों की जड़ खोदना चाहते हैं। वे भारत में जान बूझ कर ऐसी शिक्षा का प्रचार कर रहे हैं जिससे हिन्दुत्व के भावों का नाश हो और वे उनके सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन को चौपट कर रहे हैं। भारत में अंग्रेज़ी शासन की स्थापना के इतिहास का उन्होंने बहुत अच्छी तरह अध्ययन किया था और अन्त में यह परिणाम निकाला था कि अंग्रेज़ लोग जान बूझ कर भारतवासियों को अंग्रेज़ी साँचे में ढाल रहे हैं और उनकी राष्ट्रीयता का नाश कर रहे हैं। वे सदा अपने विचारों के अनुरूप ही काम किया करते थे, इस लिए उन्होंने ब्रिटिश विद्यालय में पढ़ना भी पाप समझा और निश्चिय किया कि हमें भारत के शासकों से किसी प्रकार का लाभ नहीं उठाना चाहिए। १६०७ में शिक्षा और सरकारी वृत्ति छोड़कर वे भारत लौट आये। भारत पहुँचने से पहले ही उन्होंने अंग्रेज़ी रंग ढंग और कपड़े लत्ते आदि बिलकुल छोड़ दिये थे और देशी ढंग के कपड़े पहन लिये थे यहाँ तक कि मुसलमानों और ईसाइयों से मिलना जुलना भी उन्होंने छोड़ दिया था और कट्टर हिन्दुओं की तरह रहना आरम्भ कर दिया था। एक

बार उनके पुराने शिक्षक प्रिन्सिपल रुद्र उनसे मिलने के लिए लाहौर गये थे। वे इसाई थे, इसलिए लाला हरदयाल ने न तो उनसे हाथ मिलाया और न उनको बैठने के लिए अपनी चटाई ही दी। उस समय वे सभी अंग्रेज़ी चीज़ों के बहिष्कार के पक्ष में थे। वे चाहते थे कि कुछ ऐसे हिन्दू सन्यासी और त्यागी हों जो उनके विचारों का सारे भारत में प्रचार करें। उनको पाँच छः ऐसे युवक मिल भी गये जो पढ़ना लिखना छोड़कर उनके आज्ञानुसार प्रचार कार्य करने को तैयार हो गये। वे स्वयं बहुत ही शुद्ध और सात्विक जीवन व्यतीत करते थे और चाहते थे कि और लोग भी ऐसा ही करें। उस समय वे बलप्रयोग के बड़े विरोधी थे। हाँ, समाचारपत्रों में वे लेख आदि खूब धड़ाके से लिखते थे। उनके लेखों पर सर्वसाधारण का ध्यान भी खूब आकर्षित होने लगा। उनके कामों को तथा विचारों को देखकर लोगों को आशंका होने लगी कि सरकार इनके दमन का भी कोई न कोई उपाय अवश्य निकालेगी। अतः वे १९०८ के मध्य में भारत छोड़कर विदेश चले गये। उनका देशत्याग भी एक प्रकार से उनके लिए अच्छा ही हुआ। पहले वे इंगलैण्ड गये। वहाँ वे भारतीय विद्यार्थियों में अपने विचारों का प्रचार करना चाहते थे, पर वहाँ उन्होंने देखा कि इस प्रकार के राष्ट्रीय भावों के प्रचार के लिए यह क्षेत्र उपयुक्त नहीं है। उन्हें अपने पकड़े जाने का भी भय था इसलिए वे दो वर्ष तक इधर उधर ऐसे स्थान की चिन्ता में घूमते रहे जहाँ वे निश्चिन्त होकर अपना कार्य कर सकें। एक वर्ष तक वे फ्रान्स में रहे जहाँ, उनको युरोप के सब श्रेष्ठ राजनीतिक विचारों का ज्ञान प्राप्त करने का अच्छा अवसर मिला। वहाँ युरोप के अनेक राष्ट्रीय दलवालों तथा रूस के राज्यक्रान्ति कारियों के साथ उनकी मित्रता हो

गई । फ्रान्सीसी समाचारपत्रों में वे लेख आदि भी लिखने लग गये । जर्मन भाषा का भी उन्होंने अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। वहाँ से चलकर वे अन्त में अमेरिका पहुँचे। वहाँ से भारत के समाचारपत्रों में पहले वर्ष वे जो लेख भेजा करते थे, उनसे तो यही सिद्ध होता था कि उनके राष्ट्रीय विचारों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। पर एक वर्ष बाद मानो उनके सभी विचार बदल गये। उनके राष्ट्रीय विचारों में तो कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था, पर सामाजिक, नैतिक तथा हिन्दू धर्म सम्बन्धी विचारों में बड़ा भारी परिवर्तन हो गया था। हाँ, भारत के ब्रिटिश शासन के प्रति उनकी घृणा ज्यों की त्यों बनी रही। वे चाहते थे कि इस समय भारतवासियों को संसार के सब काम छोड़कर अपने देश को स्वतन्त्र करने के प्रयत्न में लग जाना चाहिए। जिस समय सान फ्रान्सिस्को में वे पकड़े गये थे, उस समय उन्होंने कहा था कि मैं न तो क्रान्तिकारी हूँ और न राजनीतिक हत्याओं आदि का ही पक्षपाती हूँ पर युरोपीय महायुद्ध के बाद उनके विचारों में बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। जो हो, भारतवासियों में उनका बहुत अधिक आदर है। यहाँ तक कि एक बार स्वर्गीय मि० गोखले ने भी उनकी प्रशंसा की थी।

उन दिनों लाला हरदयाल का यह मत था कि ब्रिटिश शासन के विरुद्ध खुले आम विद्रोह किया जाय। हर्षका विषय है कि अब उनके विचार वैसे विद्रोही नहीं रह गये और वे भारतीय राजनीति के प्रकृत विकास के पक्षपाती हो गये हैं। वे स्वयं तो बमबाजी और हत्या आदि पसन्द नहीं करते थे, पर जिन लोगों ने देश के कल्याण के लिए अपने प्राण दिये थे, उनकी प्रशंसा वे अवश्य करते थे।

जो हो, ये राष्ट्रीय दलवाले ब्रिटिश सरकार के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं करना चाहते। वे अपने देश के लिए पूर्ण स्वराज्य चाहते हैं। वे यह तो जानते हैं कि स्वराज्य प्राप्त करना बहुत ही कठिन काम है, पर फिर भी उन्हें अपनी सफलता पर दृढ़ विश्वास है। वे स्वराज्य के लिए देश में यथेष्ट शिक्षा प्रचार अथवा समाज सुधार की कोई विशेष आवश्यकता नहीं समझते। उनकी धारणा है कि शिक्षा प्रचार और समाज सुधार आदि के कामों में अंग्रेजों ने भारतवासियों को इसलिए लगा रखा है कि जिसमें वे राजनीतिक क्षेत्र में विशेष कार्य न कर सकें। साम्राज्यवादी शासकों की यह एक चाल है कि वे अपने अधीनस्थ देशों की प्रजा को यह विश्वास दिला देते हैं कि तुम लोग अपना काम आप चलाने के अयोग्य हो, तुम लोगों में एका नहीं हो सकता, और तुम लोगों में अनेक त्रुटियाँ हैं। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में सुधार सम्बन्धी जो काम होते हैं, उनको ये राष्ट्रीय दलवाले अनुचित ही नहीं बल्कि हानिकारक भी समझते हैं। क्योंकि उनके कारण लोगों का ध्यान स्वराज्य प्राप्ति की ओर से हट जाता है। वे चाहते हैं कि सब लोग काम छोड़कर पहले अपने देश को पराधीनता से छुड़ावें और तब तरह तरह के सुधार आदि करें।

राजनीतिक स्वतंत्रता जीवन की पहली आवश्यकता है।

राष्ट्रीय दल वालों के मतानुसार राजनीतिक परतंत्रता जीवन के लिए बहुत ही नाशक है। जीवन का अर्थ यह है कि मनुष्य में उन्नति करने की योग्यता और शक्ति हो। गुलामों को उन्नति करने का कोई अधिकार नहीं होता। उनके लिए स्वामी का हित प्रधान और अपना हित गौण होता है। उसे अपनी

सारी उत्तमोत्तम शक्तियों का प्रयोग अपने स्वामी के लिए ही करना पड़ता है। और सदा अपने स्वामी के इच्छानुसार इस्त चलना पड़ता है। वह न तो स्वयं पूरी उन्नति कर सकता है और न अपनी शक्तियों का पूरा पूरा उपयोग ही। वह अपने इच्छानुसार अपनी शारीरिक और आत्मिक उन्नति भी नहीं कर सकता। वह जो कुछ करता है, वह अपने स्वामी के लिए ही करता है। उसके सब कार्यों का यश और लाभ स्वामी को ही प्राप्त होता है। जो बात एक साधारण गुलाम के सम्बन्ध में ठीक है, वही बात एक गुलाम राष्ट्र के सम्बन्ध में भी पूरी तरह से ठीक है।

अपने इस कथन की सत्यता के प्रमाण में लोग इण्डियन नेशनल कांग्रेस का इतिहास तथा कार्रवाइयाँ उपस्थित करते हैं। कांग्रेस कहती है कि सर्वसाधारण में आरम्भिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय, सरकार कहती है, नहीं क्योंकि न तो इसके लिए हमारे पास धन है, न भारत इसके योग्य है और न इससे भारतवासियों का कोई लाभ ही हो सकता है। बात यह है कि यदि सर्वसाधारण शिक्षित हो जायँगे तो वे स्वतंत्रता के लिए और भी अधिक आन्दोलन करके सरकार को तंग करेंगे। कांग्रेस कहती है, सब लोगों को हथियार रखने का अधिकार मिले। सरकार कहती है कि नहीं क्योंकि सम्भव है कि हथियार पाकर लोग उनका व्यवहार सरकार के ही विरुद्ध करने लग जायँ। भारतवासी सेना में स्वयं सेवक बनना चाहते हैं सरकार कहती है, नहीं, क्योंकि उसे भारतवासियों को सैनिक शिक्षा देना अभीष्ट नहीं है। भारतवासी भारतीय शिल्प की रक्षा करना चाहते हैं। सरकार कहती है, नहीं क्योंकि उससे लंकाशायर वालों की हानि होगी।

कांग्रेस चाहती है कि लोगों को शिल्प और कला की शिक्षा मिले सरकार कहती है, नहीं, भारतवासियों को इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। और न इसके लिए हमारे पास धन ही है। कांग्रेस चाहती है कि देश में राष्ट्रीय विद्यालयों को स्थान हो। सरकार कहती है, नहीं क्योंकि तुम लोग उनका दुरुपयोग करोगे। असल मतलब यह है कि भारत का अस्तित्व केवल इंगलैण्ड के लाभ के लिए ही रहना चाहिए। भारत जो कुछ करे, वह अगरेज़ राजनीतिज्ञों के इच्छानुसार ही होना चाहिए। भारतवासियों को स्वयं अपनी चिन्ता करने या अपना हानि लाभ सोचने का कोई अधिकार ही नहीं है। इसीलिए ये राष्ट्रीय दल वाले देश के लिए सबसे पहले यह आवश्यक समझते हैं कि उसे राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त हो। बिना उसके देश का जीवन किसी काम का ही नही है। इसलिए राजनीतिक स्वतंत्रता से पहले और किसी बात का विचार करना निरर्थक ही है।

यदि मनुष्य को मनुष्य की भांति शिक्षा न दी जाय और केवल पशुओं की ही भांति शिक्षा दी जाय, तो उसका परिणाम यही होगा कि वह पशुओं की भांति केवल अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही सीखेगा। जब मालिक उनसे सलाम करने के लिए कहेगा, तब वे सलाम करेंगे और जब नाचने के लिए कहेगा, तब वे नाचने लगेंगे। उनकी सब बातें मालिक के अधीन ही होंगी राष्ट्रीय दल का कथन है कि ऐसी दशा में लोगों को जो शिक्षा मिलेगी, वह उनके गुणों का नाश करनेवाली ही होगी। मालिक के भले के लिए शिक्षित होने के बदले लोगों का अशिक्षित रहना ही कहीं अच्छा है।

ठीक यही बात समाज सुधार आदि दूसरी अनेक बातों के सम्बन्ध में भी है। उससे लोगों में परस्पर मतभेद भी उत्पन्न होता है। और वे राजनीतिक क्षेत्र में काम भी नहीं करने पाते। इससे उनके समय और शक्तियों का व्यर्थ नाश होता है। उनके मत से सबसे पहले प्रत्येक भारतवासी को विदेशियों से अपना पीछा छुड़ाना चाहिए और तब कोई और काम करना चाहिए वे इन बातों का विचार करने की आवश्यकता नहीं समझते कि जब देश स्वतंत्र हो जायगा, तब उसका शासन कौन और कैसे करेगा। उनका विश्वास है कि ज्योंही अंगरेज़ लोग भारत को छोड़ देंगे, त्योंही कोई न कोई उसका काम सम्भालने के लिए खड़ा हो ही जायगा। समय आने पर काम करनेवाले आप से आप निकल आवेंगे। उन्हें इस बात की परवाह नहीं है कि शासन हिन्दुओं के हाथ में रहेगा, मुसलमानों के हाथ में रहेगा, सिक्खों के हाथ में रहेगा या किसके हाथ में रहेगा। उदयपुर के महाराणा सारे भारत का राज्य करेंगे या बड़ौदा के गायकवाड़। यहाँ प्रजातंत्र होगा, गण राज्य होगा या एकतंत्र राज्य होगा। वे केवल विदेशियों के शासन के विरोधी हैं। क्योंकि विदेशियों का शासन धीरे धीरे देश का नाश करता जा रहा है। शान्ति भंग की आशंका से भी वे भयभीत नहीं होते। वे तो इस नाशक शान्ति से घबरा गये हैं क्योंकि इससे उनका पुरुषत्व और मनुष्यत्व दोनों नष्ट हो गये हैं। अंगरेज़ों के शासन से भारतवासियों की सबसे बड़ी हानि यह हुई है कि वे शान्ति के उपासक बन गये हैं। इससे उनकी इतनी अधिक हानि हुई है कि जितनी अराजकता से भी न होती। वे समझते हैं कि मराठों या सिक्खों के शासन से पहले देश में जो अशान्ति थी, वह

आज कल की शान्ति से कहीं अच्छी थी। वह समय बहुत अच्छा था जब कि देश में महाराना प्रताप, शिवाजी, दुर्गादास और गोविन्ददास उत्पन्न होते थे। आजकल के जमादारों, हवलदारों और रिसालदारों से तो वे लाख दरजे अच्छे थे।

लाला हरदयाल और उनके संगी साथियों के यही विचार हैं। अधिकांश राष्ट्रीय दलवालों का भी यही मत है। पर कुछ ऐसे भी हैं जो इन विचारों से पूर्ण रूप से सहमत नहीं हैं। व राजनीतिक स्वतंत्रता का महत्व तो समझते हैं और उसे सबसे उच्च आसन भी देते हैं, पर वे यह नहीं चाहते कि उनके सामने और सब बातों का विचार बिलकुल छोड़ ही दिया जाय।

अरविन्दघोष वेदान्ती हैं या स्वराज्यवादी।

यह बतलाना कठिन ही है। पहले वे केवल वेदान्ती माने जाते थे, पर पीछे से वे स्वराज्यवादी भी सिद्ध हो गये। एक बात अवश्य है। उनके विचार लाला हरदयाल के विचारों से बिलकुल भिन्न हैं। विद्या बुद्धि में तो वे हरदयाल से कहीं श्रेष्ठ हैं हीं, उनमें एक विशेषता यह भी है कि वे परम धार्मिक हैं वे हरदयाल से भी बढ़ कर त्यागी और साधु हैं। वे चाहते हैं कि राष्ट्रीयता के सभी अंगों की समान रूप से उन्नति और विकास होना चाहिए। एक बार मदरास के हिन्दू पत्र के प्रतिनिधि ने उनसे मिल कर कुछ बातें की थी। उन बातों से उनका जो कुछ मत प्रकट होता था, उसका सारांश हम नीचे देते हैं।

हर साल दिसम्बर में जो महासभाएँ आदि होती हैं, उनको वे विशेष लाभदायक नहीं समझते क्योंकि उनमें कोई अच्छा काम नहीं होता, केवल थोड़ी सी पुरानी बातों की पुनरावृत्ति होती है। उनसे भविष्य के सम्बन्ध में कोई विशेष आशा नही होती। पुराने ढंग के आन्दोलन निरर्थक होते जाते हैं और संसार बड़ी शीघ्रता से बदल रहा है और हमें भी भारी भारी परिवर्तनों के लिए तैयार कर रहा है। हमारे राष्ट्र को जीवित रखने के लिए अब बहुत ही उच्च विचारों और कार्यों तक पहुँचना पड़ेगा। आन्दोलन की ये रस्में अदा करने से कोई लाभ नही होगा। जब अपनी उन्नति के लिए हमें और भी गहराई में जाना होगा। इधर कुछ दिनों से शान्ति रही है। इसका तात्पर्य यह है कि हमारा तेज और श्रेय और भी बढ़ रहा है। और शीघ्र ही किसी बहुत बड़े और अच्छे काम में उसका उपयोग होने लगेगा। हमारा कल्याण तभी हो सकता है, जब हमारी मानसिक तथा आत्मिक जाग्रति पूर्ण रूप से हो। हमारा ज्ञान और कार्यक्षेत्र आदि बहुत ही परिमित तथा संकुचित हैं। और इसी लिए हम संसार के विस्तृत जीवन में प्रवेश नहीं करने पाते। पर सौभाग्यवश लोगों में जाग्रति और विकास के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। आज कल कोई राष्ट्र केवल राजनीति के सहारे ही महान् नही हो सकता। अब तो सर्वांग पूर्ण और सम्पन्न जीवन से ही किसी राष्ट्र का अस्तित्व रह सकता है। भारतीय राष्ट्रीयता के भाव केवल भारतवासियों में उत्पन्न ही नहीं हुए हैं, बल्कि युरोप के राष्ट्रों तथा हमारे शासकों ने भी उन्हें मान्य कर लिया है। इस समय हमें केवल अपनी स्वतंत्र राष्ट्रीयता की ही चिन्ता नहीं करनी चाहिए। बल्कि उसे सारे मानव संसार का एक अंग समझना चाहिए

अपना राष्ट्रीय विकास करने के उपरान्त भारत को संसार के सभी राष्ट्रों से एकता उत्पन्न करनी पड़ेगी। मानव जाति तो दिन पर दिन बढ़ती ही रहेगी। इस लिए अब हमें यह भी सोचना चाहिए कि हमें उसके किन किन जगह की पूर्ति में सहायक होना पड़ेगा। हमें सबसे अलग रह कर केवल आत्म-रक्षा का ही विचार नहीं करना चाहिए बल्कि अधिक उदारता पूर्वक सभी जातियों और सभी राष्ट्रों में प्रीति तथा भ्रातृभाव उत्पन्न करने के लिए तैयार हो जाना चाहिये। हमें अपने देश के हित के संकीर्ण क्षेत्र से निकल कर सारे संसार के हित के विस्तृत क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिए। किसी राष्ट्र की उन्नति के लिए उसको आत्मिक जाग्रति की बहुत अधिक आवश्यकता हुआ करती है। यदि इस मार्ग पर चलकर भारत चाहे तो सारे संसार का मार्ग दर्शक बन सकता है। हमें अपने सामाजिक और जाति सम्बन्धी नियमों में शीघ्र ही बहुत परिवर्तन करना पड़ेगा। आगे चलकर मानव कुल इतना अधिक ज्ञान, इतना अधिक नया बल और इतनी अधिक नई योग्यता सम्पादित करेगा, जिससे सारे संसार में एक अभूतपूर्व क्रान्ति हो जायगी और उस क्रान्ति में भारत बहुत अधिक सहायक हो सकता है। आजकल लोग छोटी मोटी राजनीतिक बातों की ओर ही विशेष ध्यान देते हैं, पर मैं उन बातों का ध्यान छोड़ कर और भी आगे की तथा विस्तृत बातों का विचार कर रहा हूँ। मेरे त्याग और एकान्त वासना के यही कारण हैं। तपस्या पर मेरा पूर्ण विश्वास है चाहे मेरे लिए उसका अर्थ अब प्राचीन ऋषियों के अर्थ से कुछ भिन्न ही क्यों न हो पर आज कल संसार में कोइ बड़ा काम करने के पहले तपस्या करना ही बहुत अधिक आवश्यक है।

गणेशविनायक सावरकर।

अब हम एक ऐसे राष्ट्रीय दलवाले का जिक्र करते हैं कि जिनका कुछ दिनों तक इंगलैण्ड के भारतीय विद्यार्थियों पर बहुत अधिक प्रभाव था और जो पहले आजन्म काले-पानी की सज़ा पाने के कारण अण्डमन भेज दिये गये थे। उनका नाम गणेशविनायक सावरकर है। साधुता आदि में वे भी हरदयाल और अरविन्द घोष की ही कोटि के हैं। राजनीतिक क्षेत्र में उनके विचार अरविन्द घोष के समान ही हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि उनमें उतना अधिक भाव नहीं है। वे हरदयाल की कोटि के हैं। उनमें नेताओं के सभी गुण वर्तमान हैं और उनमें सबसे बड़ा गुण यह है कि वे अपने शरीर की रक्षा को कोई चीज़ ही नहीं समझते। वे सच्चे वीर के समान हैं जो युद्धक्षेत्र में सबसे आगे और सबसे भीषण स्थान में रहकर अपना काम करता है। हरदयाल सुरक्षित स्थान में रहकर काम करना चाहते हैं और अरविन्द दोनों के बीच में रहकर।

उपद्रवी दल।

राष्ट्रीय दलवालों का एक तीसरा वर्ग है जो पूर्ण स्वतन्त्रता तो चाहता है, पर जिसे यह आशा नहीं है कि शीघ्र ही देश पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो सकेगा। वे उपद्रव करने और सरकार को डराने के लिए कभी कभी बम या रिवाल्वर आदि चलाने के पक्ष में भी हैं और विशेषतः आज कल जब कि प्रचार कार्य का और कोई उपाय ही नहीं रह गया, वे इसके और भी अधिक पक्षपाती हैं। जिस समय समाचारपत्रों के मुँह बन्द कर दिये गये हों, लोगों को व्याख्यान आदि देने से

रोक दिया गया हो, उस समय राजनीतिक प्रचार कार्य करना प्रायः असम्भव हो जाता है। ऐसे समय में वे उपद्रव करने के पक्ष में हैं। विदेशी शासन से किसी देश का जो अनहित होता है, वह तो सब पर विदित ही है। उनका सिद्धान्त है कि जब हमें अपने भाइयों में जाग्रति उत्पन्न करने से रोक दिया गया हो, तब सारे संसार पर अपना असन्तोष और स्वाधीन होने की कामना प्रकट करने के लिए इसके सिवा और कोई उपाय ही नहीं रह जाता कि हम बम और रिवाल्वर चलावें। उनका विश्वास है कि ऐसे कामों से सारे संसार का ध्यान हमारे कष्टों की ओर आकृष्ट होगा। इससे देशवासियों में भी जाग्रति उत्पन्न होती है और वे समझने लगते हैं कि सरकार हमारे साथ कितना अन्याय कर रही है। किसी समय इन बमबाजों का भी भारत में बहुत ज़ोर था, पर अब उनका कहीं नाम भी नहीं है। अब लोगों की प्रवृत्ति कुछ और ही प्रकार के आन्दोलन की ओर हो गई है और वे दूसरे ही मार्ग में लग गये हैं।

संघटनात्मक राष्ट्रीयता के पक्षपाती।

वे चौथी श्रेणी में के लोग हैं जो स्वतन्त्रता तो चाहते हैं, पर तत्काल ही नहीं। वे पहले राष्ट्र का संघटन करना चाहते हैं, उसकी मानसिक तथा नैतिक उन्नति करना चाहते हैं, उसका साम्पत्तिक बल बढ़ाना चाहते हैं और तब वे देश को स्वतन्त्र बनाना चाहते हैं। उनका विश्वास है कि जब तक ब्रिटिश सरकार पर बहुत अधिक दबाव नहीं पड़ेगा, तब तक वह सहज में हमें कोई अधिकार न देगी। इनके विश्वास के अनुसार देश को अभी न तो कांग्रेस की आवश्य-

कता थी और न बमबाजी की। उसे तो अभी केवल शिक्षा और संघटन की ही आवश्यकता थी।

स्वतन्त्रता मिले, पर तत्काल ही नहीं।

ऐसे लोग सोचते हैं कि अंग्रेज़ों को तब तक भारत में रहना चाहिए जब तक भारतवासी उन्हें बलपूर्वक देश के बाहर निकाल देने के योग्य न हो जायँ और जब तक वे विदेशियों के आक्रमण से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने में समर्थ न हो जायँ। वे यह तो मानते हैं कि अंग्रेज़ शासक अपनी ओर से हमें कभी इतना बलवान न होने देंगे कि हम स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकें, और यदि हम समय होने की प्रतीक्षा में ही बैठे रहेंगे, तो समय होने तक अपना इस समय का बल और ज्ञान भी नष्ट कर देंगे पर इसके लिए वे यह उपाय बतलाते हैं कि हमें सदा अपने राष्ट्रीय भावों को जीवित रखने के प्रयत्न में लगे रहना चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर उसके लिए कष्ट भी सहने चाहिए। इनमें से कुछ लोगों का यह भी विश्वास है कि कांग्रेस और बमबाजी अपने अपने ढंग से दोनों ही उपयोगी और अच्छे हैं। वे किसी को बमबाज़ी के लिये उत्तेजित तो नही करेंगे, पर यदि उनकी जानकारी में कोई बम आदि चलावेगा, तो उसे वे गिरफ़ार भी न करावेंगे। किसी अत्याचारी शासक या अनाचारी व्यक्ति पर यदि बम या गोली चलाई जाय, तो उसे वे बुरा भी नहीं समझेंगे क्योंकि आज कल जो व्यवस्था है, उसके अनुसार किसी अत्याचारी अंग्रेज़ के अत्याचारों का बदला किसी प्रकार चुकाया भी नहीं जा सकता। ये लोग स्वार्थ त्यागपूर्वक देश में प्रचार करने के पक्ष में हैं वे चाहते

हैं कि राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने से पहले हमें चाहिए कि लोगों की प्रेमपूर्वक सेवा और सहायता करके उनको अपने पक्ष में मिला लिया जाय ।

स्वतन्त्रता के लिये तैयारी ।

वे लोग मानते हैं कि बिना सर्वसाधारण की सहायता के कुछ नहीं हो सकता और सर्वसाधारण को अपनी ओर तभी मिलाया जा सकता है जब कि हम उन पर यह प्रमाणित कर दें कि हम हृदय से तुम्हारा कल्याण करना चाहते हैं और हम लोगों की व्यवस्था विदेशियों के शासन से कहीं अच्छी होगी। वे समझते हैं कि यदि कांग्रेस का कोई उपयोग हो सकता है तो वह केवल यही कि उससे लोगों में जाग्रति हो सकती है। न तो उनको अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों पर कोई विश्वास है और न वे कांग्रेस से ही किसी विशेष लाभ की आशा रखते हैं। भविष्य के सम्बन्ध में वे अभी से कुछ भी निश्चित नहीं कर सकते और इसी लिए वे समझते हैं कि हमें सबसे पहले सर्वसाधारण में जाग्रति उत्पन्न करनी चाहिए और अपना सामाजिक सुधार करना चाहिए। वे बमबाजी भी बुरा समझते हैं। वे चाहते हैं कि इस बार हमको जो स्वतन्त्रता प्राप्त हो, वह स्थायी हो और फिर कभी नष्ट न हो और यह तभी हो सकता है जब कि वह स्वतन्त्रता केवल थोड़े से लोगों के उद्योग से नहीं, बल्कि सभी लोगों के उद्योग से प्राप्त हो और जब तक वह समय न आवे तब तक वे चाहते हैं कि हम लोग प्रतीक्षा करते हुए अपने राष्ट्र का संघटन करें।

तैयारी का काम आरम्भ से होना चाहिए। उनका मत है

कि कांग्रेस को अपने प्रयत्न में इसी लिए विफलता हुई है कि उसने उन पर या सिर की ओर से चलकर राजनीतिक अधिकार प्राप्त करना चाहा है। पर वास्तव में उसे यह नीचे की ओर से आरम्भ करना चाहिए था। राजनीतिज्ञों की उदारता आदि से उन्हें कुछ भी आशा नहीं है। राष्ट्रीय दल से उनका इसलिए मतभेद है कि वे चाहते हैं कि राष्ट्र की जो कुछ उन्नति अथवा विकास हो, वह पूरा पूरा और दृढ़तापूर्वक हो। ऐसे लोगों में अनेक परम श्रेष्ठ भारतीय भी हैं जिन्होंने अपूर्व स्वार्थ-त्याग करते हुए अपना सारा जीवन देशकार्यों में ही विताया है। वे अपनी सेवाओं अथवा कार्यों का कोई बदला नहीं चाहते यदि उनका देश स्वतन्त्र हो जाय तो वे समझ लेंगे कि हमें सब कुछ मिल गया।

ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन।

ऐसे लोग किसी एक ही जाति धर्म अथवा सम्प्रदाय के नहीं हैं। वे सभी धर्मों और सम्प्रदायों में पाये जाते है। वे बहुत ही सीधी सादी तरह से रहते हैं और जो कुछ उपार्जन करते हैं, वह सब देश कार्यों में दे देते हैं। उनमें से अनेक ब्रह्म समाजी और आर्य समाजी भी हैं। उनके अनुयायियों की भी कमी नहीं है, पर उनकी संख्या बहुत अधिक नहीं है। वे अपने क्षेत्र में बहुत प्रसिद्ध हैं, पर बाहरवाले उनको बहुत ही कम जानते हैं। सरकारी खुफिया पुलिस उन पर भी कड़ी दृष्टि रखती है। वे शान्तिपूर्वक चुपचाप अपना काम करना चाहते हैं, पर सरकार उनको भी सुख से नहीं रहने देती और उन पर अनेक प्रकार के सन्देह किया करती है।

नरमदल ।

अब हम नरमदल को लेते हैं। इस दल के लोग बमबाज़ी तो पसन्द नहीं करते, पर वे यह भी नहीं चाहते कि गरम दल का देश में कहीं नाम भी न रहे। उनके साथ सर्वसाधारण को बहुत ही कम सहानुभूति है और वे किसी काम में आगे बढ़कर अपने आप को संकट में डालना नहीं चाहते। पर फिर भी वे मन ही मन इस बात से बहुत प्रसन्न हैं कि देश में एक ऐसा दल है जिसने सरकार की दृष्टि में भारत का महत्व बढ़ा दिया है। यदि गरम दल का बिलकुल अन्त हो जाय तो ऐसे लोग बहुत ही दुःखी होंगे।

गोखले ।

कांग्रेस का काम करने वाले और नरमदल के जितने आदमी हैं उनमें सर्व प्रधान स्वा० मि० गोखले थे। उनका देश प्रेम बिलकुल सच्चा था और वे दिन रात उसके हित में लगे रहते थे। दादाभाई के बाद वे ही एक ऐसे आदमी थे जो अपना सर्वस्व त्याग करके देश सेवा में लगे हुए थे। उनका जीवन बहुत ही साधारण, उनका देशप्रेम बहुत ही उच्च कोटि का था पर फिर भी उनमें वीरता का अभाव था। वे राजनीतिज्ञ तो थे, पर उनमें नेतृत्व गुण का अभाव था। उनका अधिकांश आधार भिक्षावृत्ति पर ही था। वे अपने मित्रों से प्रायः कहा करते थे कि हम इतने पतित नहीं हैं कि यह चाहते हों कि हमारा देश सदा पराधीन रहे। यदि सम्भव हो तो मैं अपने देश को आज ही स्वतंत्र कर दूँ। पर कठिनता यह है कि हमें राजनीति में इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि कौन सी बात कार्य रूप में परिणत हो सकती है और

कौन सी नहीं हो सकती। इस समय सबसे अच्छा जो काम हो सकता है, वही हम लोग कर रहे हैं। हम लोग भिक्षुक नहीं हैं, बल्कि एक विदेशी दरबार में अपने देशवासियों की ओर से भेजे हुए वकील या राजदूत हैं। उस दरबार में रहकर जहाँ तक हो सकता है, हम अपने देशवासियों के हित की रक्षा और उनके कल्याण का उद्योग करते हैं। मि० गोखले का मत था कि हम लोगों को अपना पूरा पूरा संघटन करना चाहिए, पर साथ ही वे नम्रता पूर्वक आन्दोलन करते रहने का महत्व भी खूब समझते थे। कांग्रेस की कार्य प्रणाली में जो दोष थे, उनसे वे भली भांति परिचित थे, और कुछ नेताओं के व्यवहार से असन्तुष्ट भी थे। जिन नेताओं में उत्साह, और स्वार्थ-त्याग आदि का अभाव होता था, और जो अपना आराम छोड़कर देश के लिए कष्ट सहने को तैयार नहीं होते थे, उनसे वे नाराज़ रहते थे। गरम दलवालों के स्वार्थत्याग और अध्यवसाय आदि की वे बहुत प्रशंसा करते थे और अपने साथियों की उनसे तुलना करते हुए कहते थे कि नरम दलवालों को भी इसी प्रकार स्वार्थत्याग पूर्वक देशहित के कामों में लगे रहना चाहिए। अरविन्द और हरदयाल की वे प्रशंसा करते थे। वे कहा करते थे कि हमारी दृष्टि बहुत दूर तक नहीं जा सकती, इसीलिए हम निकट भविष्य के लिए ही काम करते हैं। एक बार इंगलैण्ड जाने से पहले उन्होंने अपने एक मित्र से कहा था कि भारत पचीस वर्ष के अन्दर स्वतन्त्र हो जायगा। अन्तिम दिनों में अँगरेज़ों की उदारता पर से उनका विश्वास उठ गया था। तो भी वे कहते थे कि इंगलैण्ड का एक उदार दल ही ऐसा है, जिसके साथ मिलकर हम कोई काम कर सकते हैं। पब्लिक सर्विसेज़ कमीशन में उनको जो अनुभव प्राप्त हुआ था, उससे

वे बहुत दुःखी हुए थे। उस कमीशन के सामने पेश होनेवाले गवाहों में भारतवासियों की योग्यता, आचरण और ईमानदारी पर जो जो अनुचित और झूठे आक्षेप किये थे, वे गोखले महाशय के लिए बिलकुल असह्य थे। गरम दलवाले जो अपने आपको राष्ट्रीय दल के कहा करते थे, इस पर भी वे आक्षेप करते थे। वे कहते थे कि हम भी तो राष्ट्रीय दल में ही हैं, आप लोगों को इस बात का क्या अधिकार है कि हमें राष्ट्रीय दल से निकालकर अलग कर दें। नरम दलवालों में वे (गोखले) अवश्य ही सर्वश्रेष्ठ थे। अब तो कोई ऐसा भी नहीं है जिसमें उनसे आधी भी श्रेष्ठता और सज्जनता हो।

कांग्रेस के नेता।

कांग्रेस के अनेक नेता सच्चे देशहितैषी हैं पर वे आवश्यकता से कहीं अधिक शान्ति के उपासक होने के कारण गरम दल से अलग रहते हैं और आरामतलब होने के कारण सर्वसाधारण में प्रचार कार्य नहीं कर सकते। वे बहुत ही धीरे धीरे आगे बढ़ना चाहते हैं, उनमें से कुछ ऐसे भी हैं जो कायर हैं, जो केवल अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं, जो बड़े बड़े ओहदे या उपाधियाँ पाने की चिन्ता में लगे रहते हैं अथवा जो केवल प्रसिद्धि ही चाहते हैं, पर उनको हम राष्ट्रीय दल में नहीं गिनते और इसीलिए उनको उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। ऐसे स्वार्थी सभी देशों और सभी दलों में हुआ करते हैं। नरम दलवालों में कुछ ऐसे भी हैं जिनके अधिकांश विचार गरम दलवालों से मिलते जुलते हैं, पर जो खुलेआम गरम दल में सम्मिलित होने का साहस नहीं कर सकते। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो वैध आन्दोलन तो करना

चाहते हैं, और जो साथ ही यह भी चाहते हैं कि कांग्रेस अपने पैरों आप खड़ी हो। पर सरकार के पास प्रार्थनापत्र आदि भेजने को वे अनुचित और निरर्थक समझते हैं।

सत्याग्रही कुछ लोग ऐसे भी हैं जो और भी आगे बढ़कर सत्याग्रह तथा बहिष्कार आदि करना चाहते हैं। इस दल के लोग महात्मा गांधी का नेतृत्व प्राप्त करके बहुत कुछ आगे बढ़ सकते हैं।

लाला लाजपतराय की यह भविष्यद्वाणी कहाँ तक पूरी हुई है, यह बतलाने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। वर्तमान असहयोग आन्दोलन ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

छठा प्रकरण।

भारतीय राष्ट्रीयता और संसार की शक्तियाँ।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भारतीय राष्ट्रीयता को अनेक ऐसी शक्तियों से बहुत कुछ सहायता मिल रही है जो इस समय भारत के बाहर सारे संसार में काम कर रही हैं। युरोप में राष्ट्रीयता की जो लहरें उठ रही हैं, वे भारतीय राष्ट्रीयता को बहुत कुछ उत्तेजना देती हैं। इंग्लैण्ड के गरीबों ने लड़ झगड़ कर सफलता प्राप्त की, फ्रांसवाले राज्य-क्रान्ति करने में सफल हुए, इटलीवालों ने भी प्रयत्न करके विजय प्राप्त की, और रूसी, पोल तथा हंगेरियन आदि भी बराबर अपने अपने कार्यों में विजयी ही होते रहे हैं। ये सब बातें देख कर भारत का राष्ट्रीय दल और भी उत्तेजित तथा उत्साहित हुआ है। और यह भी उद्योग करके विजयी होना चाहता है। भारत के राष्ट्रीय दल वालों ने इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, रूस, आष्ट्रिया, तुर्की और बालकन राज्यों के आधुनिक इतिहास का बहुत अच्छी तरह अध्ययन किया है और उनके सामने वाशिंगटन, कावूर, मेजिनी, बिसमार्क, कोसथ- एमेट, पार्नेल आदि विदेशियों

और साथ ही राणा प्रताप, रामदास, गुरु गोविन्द सिंह, शिवाजी, टीपू सुलतान और झांसी की रानी लक्ष्मीबाई आदि भारतीयों के उदाहरण सदा उपस्थित रहते हैं।

भारतीय विश्वविद्यालय और आधुनिक युरोप का इतिहास।

भारत सरकार यह बात अच्छी तरह जानती है कि आधुनिक युरोप का इतिहास पढ़कर भारतवासी बहुत सचेत हो जायँगे, और कदाचित इसी लिए कुछ लोगों का अनुमान है कि वह भारतीय विश्वविद्यालयों में आधुनिक युरोप इतिहास की शिक्षा नहीं देती।

अमेरिकन साहित्य और घटनाएँ भी भारतवासियों को बहुत कुछ उत्साहित करती रहती हैं। भारत के नेताओं ने अमेरिकन साहित्य और इतिहास का बहुत अच्छा अध्ययन किया है। एशिया की अनेक घटनाएँ भी भारतीय राष्ट्रीयता की वेदी में बहुत सहायक होती हैं। रूस जापान युद्ध में जापान के विजयी होने का भारत पर बहुत प्रभाव पड़ा था और जब युरोपवालों ने जापान को भी महाशक्तियों की कोटि में मान लिया, तब मानो भारत के तरुण दल को और भी उत्तेजना मिली। जो लोग कभी राजनीति का नाम भी नहीं जानते थे, उनमें भी जापान की विजय ने एक नई आशा और एक नये जीवन का संचार कर दिया था। इसके उपरान्त तुर्की, रूस और चीन में जो अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ हुईं, उन्होंने तरुण भारतवासियों में और भी नई जान फूँक दी।

इटली-तुर्की युद्ध।

तुर्की का पहले इटली के साथ और तब बालकन राज्यों के साथ जो युद्ध हुआ था, उसके कारण भारत के मुसल-

मानों में राष्ट्रीयता के भाव और भी बढ़ गये हैं। इस समय मुसलमानों का असन्तोष हिन्दुओं के असन्तोष से भी बढ़ा चढ़ा है।

भारत के जो शुभचिन्तक विदेश जाते हैं, वे वहाँ की तत्कालीन अवस्था का भली भाँति निरीक्षण करते हैं और अपने देश की राष्ट्रीयता पर उसका जो कुछ प्रभाव पड़ता अथवा पड़ सकता है, उसका भली भाँति विचार करते हैं। वे दूसरे देशों के राष्ट्रीय दलवालों से मिलते और बातचीत भी करते हैं। भारत के कुछ हितैषियों का परिचय मिस्र आयर्लैण्ड और फारस के राष्ट्रीय दलवालों से भी है। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीयता का प्रवेश सार्वराष्ट्रीय राष्ट्रीयता के क्षेत्र में हो रहा है। इसका परिणाम भी भारत के लिए अच्छा ही होगा।

भारत पर पश्चिमवालों की दृष्टि।

अब पश्चिमवाले पहले की अपेक्षा भारत के विचार, इतिहास और सभ्यता आदि पर अधिक दृष्टि रखते हैं। संसार का कोई ऐसा महत्वपूर्ण विचार नहीं होता जिसके सम्बन्ध में भारतीय विचारों का भी ध्यान न रखा जाता हो पर कठिनता यह है कि भारत को सारा संसार युरोपवालों की ही दृष्टि से देखता है। इधर कुछ भारतवासियों ने यह प्रशंसनीय उद्योग आरम्भ किया है कि वे अपने देश के वास्तविक विचारों को अपने ढंग पर सारे संसार के सामने उपस्थित करते हैं और उनके कार्यों की ओर लोगों का ध्यान भी खूब आकृष्ट होता है; लेकिन फिर भी इस सम्बन्ध में अभी बहुत कुछ कार्य करना बाकी है।

भारतीय विद्वानों का यह परम कर्तव्य है कि वे भारत और भारतीय विचारों का द्वार बाहरी संसार के लिए अच्छी तरह से खोल दें और इस प्रकार भारत का सम्बन्ध संसार की बड़ी बड़ी शक्तियों के साथ करा दें।

टैगोर।

यद्यपि श्रीयुक्त रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कला के सामने राष्ट्रीयता का बलिदान करके देश में अपनी प्रतिष्ठा कुछ कम कर ली है, तथापि संसार में वे अवश्य ख्याति प्राप्त कर रहे हैं। आजकल सारे संसार में बड़े चाव से उनका साहित्य पढ़ा जाता है। नोबेल प्राइज़ के जजों के सामने तो उनका काम अचानक पहुँच गया था। उन्होंने स्वयं उसे वहाँ तक पहुँचाने का कोई उद्योग नहीं किया था।

संसार में उन्नति और स्वतन्त्रता आदि के लिए जो कुछ हो रहा है, उसकी ओर से हमारे यहाँ के लेखक आदि प्रायः उदासीन ही रहे हैं। कांग्रेस के नेताओं ने एक इंगलैण्ड को छोड़कर और कहीं इस बात का उद्योग नहीं किया है कि भारत के प्रति लोगों के मन में सहानुभूति उत्पन्न हो। उन्होंने सांसारिक शक्तियों का महत्त्व ही नहीं समझा है और वे यह नहीं जानते कि अंगरेज़ लोग इस बात का कितना ख़याल रखते हैं कि संसार हमारे सम्बन्ध में क्या कहता और क्या समझता है।

भारत के राष्ट्रीय दलवालों को आगे से इस बात का ध्यान रखना चाहिए। उनको उचित है कि अब वे जो कुछ करें, वह सार्वराष्ट्रीय दृष्टि से करें। अंगरेज़ लोग चाहे जो करें, पर अब यह कभी सम्भव ही नहीं है कि भारत सारे संसार से अलग

और लोगों की दृष्टि से छिपा हुआ रहै। यदि भारतवासी अपने देश को सारे संसार से अलग रखने का उद्योग करते हैं, तो वे अपने देश के बन्धन और अपने देश का बोझ और भी बढ़ाते हैं, इससे बढ़कर आत्मघातक और अदूरदर्शिता का और कोई काम हो ही नहीं सकता।

भारतीय राष्ट्रीयता में धार्मिक और साम्प्रदायिक भाव ।

भारत में मुसलमानों की संख्या कम थी, इसलिए कुछ दिनों तक तो भारत-सरकारकी सब आशाएँ उन्हीं मुसलमानों पर निर्भर करती थी, और वह उन्हें अपनी ओर मिलाकर शासन करती थी। १८८८ तक लार्ड डफरिन और सर आकलैण्ड काल्विन उनसे कहा करते थे कि हिन्दुओं की संख्या अधिक है और वे अधिकार प्राप्त करके तुमको कुचल डालेंगे इसलिए तुम हमारे साथ मिले रहो। हम तुम्हारी रक्षा भी करेंगे और तुम्हारे साथ विशिष्ट व्यवहार भी करेंगे। बहुत दिनों तक सरकार की इस भेदनीति को सफलता होती रही। अधिकांश मुसलमान सरकार को प्रसन्न करने के लिए कांग्रेस और स्वदेशी आदि का घोर विरोध किया करते थे और यह नहीं सोचते थे कि स्वदेशी से सबसे अधिक लाभ स्वयं मुसलमान जुलाहों का ही होगा। इसके बदले में सरकार उनकी शिक्षा आदि के लिए अधिक धन व्यय करती थी, उनको अच्छे-अच्छे पद और

उपाधियाँ आदि देती थी, और काउन्सिल में चुनाव आदि के सम्बन्ध में विशेष अधिकार भी देती थी। लार्ड मार्ले ने अपने १९०८ वाले सुधारों में तो इन मुसलमानों के इस विशिष्ट अधिकार को मानो सरकारी तौर पर मंज़ूर कर लिया था, इसलिए १९०८ में मुसलमानों का दिमाग़ खूब ऊँचा हो गया था। बंगाल में कुछ मुसलमान अवश्य राष्ट्रीय दल में आ गये थे, पर फिर भी राष्ट्रीय दल से अलग रहनेवाले मुसलमानों की संख्या बहुत अधिक थी, इसलिए यह मानना पड़ेगा कि राष्ट्रीय आन्दोलन का आरम्भ केवल हिन्दुओं ने ही किया था और बहुत दिनों तक वही उसे चलाते थे।

मुसलमानों में असन्तोष ।

गत चार वर्षों में पीछे से तुर्की, ट्रिपोली, मिश्र और फारस में जो जो घटनाएँ हुईं, उनके कारण मुसलमानों की आखें खुलीं और वे सरकार से असन्तुष्ट होने लगे। तुर्कों के प्रति अंग्रेज़ों का जो व्यवहार और भाव था, उससे भारत के कुछ मुसलमान विशेष रूप से असन्तुष्ट हो गये थे। उन्होंने सोचा कि यहाँ भारत सरकार हमें थोड़ी बहुत रिश्वत देकर इसलिए हमारा मुँह बन्द करना चाहती है कि हम तुर्की आदि के सम्बन्ध में कुछ न बोलें और अंग्रेज़ उसके साथ जो कुछ करें, वह हम लोग चुपचाप देखा करें। अब मुसलमान लोग सारे संसार के मुसलमानों को मिलाकर एक करने का उद्योग करने लगे और सब लोग अंग्रेज़ों के विरोधी हो गये। जिस समय बालकन राज्यों और इटली के साथ तुर्की का युद्ध हुआ था, उस समय सारे भारत के मुसलमान तुर्की की विजय के लिए ईश्वर से प्रार्थना किया करते थे और अपने ईसाई शत्रुओं के

कार्यों की खूब निन्दा करते थे, और अब तो उनका वह असन्तोष और भी भीषण रूप धारण कर चुका है।

इधर थोड़े दिनों में सरकार ने मुसलमानों के अनेक समाचार पत्र और पुस्तकें आदि ज़ब्त कर ली हैं, लेकिन फिर भी मुसलमान बराबर उनके सम्पादकों और लेखकों की सहायता करते चलते हैं, साथ ही सरकार के प्रति उनका असन्तोष भी दिन पर दिन बढ़ता ही जाता है। इधर वे हिन्दुओं से आ मिले हैं। हिन्दू नरम दलवाले तो अपने हिन्दू गरम दल वाले भाइयों से प्रायः बहुत दूर और अलग रहते हैं, पर मुसलमान नरम दलवाले अपने गरम दल वाले भाइयों को यथेष्ट सहायता करते हैं। मुसलमान नरम दलवाले सरकार के कार्यों की टीका भी अपेक्षाकृत कड़े शब्दों में करते हैं। उनके मुंह से अंगरेज़ी राज्य की उतनी अधिक प्रशंसा भी नहीं निकलती। वे राजनीतिक क्षेत्र में हिन्दू नरम दलवालों की अपेक्षा अपने लिए, कुछ अधिक और अच्छा ही काम करते हैं।

भारत के बाहर जो शिक्षित मुसलमान हैं, वे भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ पूरी पूरी सहानुभूति रखते हैं। इधर अंग्रेज़ों के प्रति मुसलमानों के भावों में जो परिवर्तन हुए हैं, उनको देखते हुए आशा होती है कि भारतीय राष्ट्रीय दल का ज़ोर बहुत बढ़ जायगा और उसे अच्छी सफलता होगी।

सिक्खों में असन्तोष।

कुछ दिनों तक मुसलमानों की भाँति सिक्खों को भी सरकार ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन से दूर ही रखा था परन्तु सिक्खों के साथ कनाडा में जो व्यवहार हुआ था, कोमा गाटा मारू की जो घटना हुई थी और लाला

हरदयाल तथा अमेरिका की गदर पार्टीका सिक्खों पर जो प्रभाव पड़ा था, उसके कारण अब सिक्ख भी अंग्रेज़ों से बहुत असन्तुष्ट हो गये हैं। पर एक विदेशी स्वार्थी सरकार जब गलती करने लगती है, तब उसकी गलतियों का कहीं अन्त नहीं होता, इसलिए आशा है कि उनका असन्तोष भी दिन पर दिन बढ़ता ही जायगा। सम्भव है कि सरकार अब उनको भी कुछ बड़े बड़े पद देकर अपनी ओर मिलाने की कोशिश करे, इसमें भी उसे कामयाबी न होगी।

आठवाँ प्रकरण।

भविष्य।

भारत के सम्बन्ध में किसी प्रकार की भविष्यद्वाणी करना बहुत ही कठिन है। बात यह है कि मनुष्य को जिसकी स्वप्न में भी आशा नहीं होती, वही बात प्रायः हुआ करती है। विशेषतः भारत की समस्याएँ तो और भी जटिल हैं। इधर पन्द्रह बीस वर्षों में भारत में जो नये नये परिवर्तन हुए हैं, उनका पहले किसी को स्वप्न में भी ध्यान न था। यह तो ठीक ही है कि भारतवासी सबसे अधिक पिछड़े हुए हैं और उनपर संसार के परिवर्तनों का बहुत ही थोड़ा और बहुत ही धीरे धीरे प्रभाव पड़ता है और वे कठिन से कठिन समय में भी बहुत ही सन्तुष्ट रहते हैं, पर फिर भी इधर कुछ दिनों में उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में आश्चर्य्यजनक उन्नति की है, इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता।

भारतीय जीवन में परिवर्तन और राष्ट्रीय भाव के प्रचार।

यद्यपि करोड़ों भारतवासियों पर संसार के भारी भारी परिवर्तनों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि लाखों ऐसे भारतवासी भी हैं जिनमें आश्यचर्यजनक

जाग्रति हुई है। यों तो बड़ी बड़ी समाजों आदि में सर्व साधारण की उपस्थिति और समाचारपत्रों आदि की बिक्री से ही देश की जाग्रति का बहुत कुछ पता चलता है, पर देश में जो वास्तविक जाग्रति हुई है, वह इसकी अपेक्षा कहीं अधिक है। किसी गाँव में जाकर वहाँ के निवासियों की बातचीत सुनिये, उनके देहाती गीत आदि सुनिये, तो आपको पता चलेगा कि भारत में राष्ट्रीयता का भाव कितनी गहराई तक पहुँच चुका है। इसका ठीक ठीक पता यदि लग सकता है तो भारतवासियों को ही लग सकता है, विदेशियों को नहीं लग सकता। किसी भारतीय समाचार पत्र को उठा लीजिये, उसमें आपको अपने देश का कुछ न कुछ दुखड़ा अवश्य मिलेगा। उसमें देश की दुर्दशा का कुछ न कुछ वर्णन अवश्य होगा। भारतीय समाचार पत्रों का यह रोना बराबर बना ही रहता है। किसी बहुत बड़े सरदार या महाजन को लाकर किसी सार्वजनिक सभा के प्लेटफार्म पर खड़ा कर दीजिये तो वह भी अपने देश के अभाग्य की कुछ कथा अवश्य सुनावेगा, उसकी बातों में भी राष्ट्रीयता का कुछ न कुछ भाव अवश्य दिखाई देगा और यदि आप उनसे अकेले में बातचीत करेंगे, तो आप को और भी अधिक पता लगेगा कि भारतवासी इस विदेशी शासन से कितने अधिक दुःखी हैं। मूल लेखक लाला लाजपतराय का कथन है कि मैं सब तरह के लोगों से मिलता जुलता रहा हूँ, पर आज तक मुझे एक भी ऐसा आदमी नहीं मिला जो योरोप में महायुद्ध छिड़ने के कारण वास्तव में हृदय से दुःखी हो। बहुत से राजभक्त भारतवासी युद्धक्षेत्र में अंग्रेज़ों की ओर से लड़ते हैं और वे अपनी ओर से शत्रु को परास्त करने में कोई कसर

न करेंगे, पर फिर भी उनके हृदय में अंग्रेज़ शासकों की ओर से कुछ न कुछ खटका अवश्य मिलेगा। तात्पर्य यह है कि राष्ट्रीयता का भाव सभी प्रकार के लोगों में फैल गया है और दिन पर दिन बढ़ता जाता है। जो लोग सर्व साधारण से बराबर मिलते जुलते रहते हैं, वे इन बातों को बहुत अच्छी तरह समझते हैं। विदेशियों के सामने यह बात अच्छी तरह नहीं आ सकती। यहां तक कि वेश्याएं और भिखमंगे भी राष्ट्रीय गीत गाने लग गये हैं क्योंकि वे लोग समझते हैं कि इसी प्रकार के गीतों आदि से आजकल लोग सन्तुष्ट होते हैं।

शहीदों से मिलनेवाली उत्तेजना।

दमन से इस राष्ट्रीय आन्दोलन का कभी अन्त नहीं हो सकता। देश में राष्ट्रीयता की जो लहर उठ रही है, उसे सरकारी उपाय किसी प्रकार रोक नहीं सकते। दमन से तो उसका ज़ोर और भी बढ़ता ही है। सरकार आन्दोलन-कार्यों को पकड़ पकड़ जेल भेजती है पर लोगों का जोश और भी बढ़ता जाता है और नये नये आन्दोलनकारी उत्पन्न होते जाते है। अब तो राष्ट्रीय आन्दोलन उस सीमा तक पहुँच गया है जहाँ दमन आदि से उलटे उसमें और भी अधिक ज़ोर ही पहुँचता है जो लोग देश के लिए बलिदान होते हैं, उनका रक्त और भी अनेक लोगों को बलिदान होने योग्य बनाता है। सर्वसाधारण और कुछ नहीं सोचते विचारते, वे केवल यही देखते हैं कि अच्छे अच्छे पढ़े लिखे लोग अपने देश के कष्ट दूर करने के लिए जेल जा रहे हैं। बस, उनको उत्तेजित करने के लिए यही भाव यथेष्ट होता है। पहले जब कोई बम चलाता था तब सब लोग उसके उस कार्य पर

असन्तोष प्रकट करते थे, पर जब उसको फाँसी दी जाती थी, तब उसके लिए वे दुःखी भी होते थे क्योंकि वे समझते थे कि वह देश के लिए बलिदान हो रहा है। छोटे बड़े सभी तरह के लोग उनके कामों की निन्दा तो अवश्य करते थे पर साथ ही सब लोग उनके प्रति कुछ न कुछ भक्ति और श्रद्धा भी अवश्य ही रखते थे।

राष्ट्रीयता की लहर बढ़ती ही जा रही है। जब कोई राष्ट्र निर्माण होने लगता है, तब उसकी अवस्था प्रायः ऐसी ही हुआ करती है। अब न तो बड़े बड़े अधिकारियों की मीठी मीठी बातें लोगों को सन्तुष्ट कर सकती हैं और न किसी विशिष्ट वर्ग के साथ उनका कोई विशिष्ट व्यवहार ही लोगों को प्रसन्न कर सकता है। अब चाहे सरकार सारे देश में रेलें चलावें और चाहे नहरें खुदवावें पर राष्ट्रीयता की जो लहर एक बार उठ खड़ी हुई है, वह कभी रुक नहीं सकती।

अब छोटी छोटी रिआयतें व्यर्थ हैं।

अंग्रेज़ लोग चाहे इससे प्रसन्न हों और चाहे अप्रसन्न, पर वास्तव में भारत की यही स्थिति है। युद्ध आदि के समय अवसर पड़ने पर अंग्रेज़ लोग चाहें हमें अपना भाई ही क्यों न बतलावें और हमें कितने ही सब्ज़ बाग क्यों न दिखलावें, पर हमारे पिछले अनुभव ने हमें यह बात अच्छी तरह समझा दी है कि हमें उनकी बातों का कुछ भी मूल्य नहीं समझना चाहिए। अब जब तक वे अपने शुद्ध हृदय का परिचय कार्य रूप में न देंगे, तब तक कोई उनका विश्वास न करेगा। चाहे पंजाब में हाईकोर्ट बन जाय और चाहे बिहार में विश्वविद्यालय स्थापित हो जाय, चाहे

मालवीयजी को विश्वविद्यालय स्थापित करने का अधिकार मिल जाय और चाहे मुसलमानों की रक्षा के लिए बहुत बड़ी रकम मंज़ूर हो जाय, पर जब तक भारतवासियों को सब प्रकार के हथियार आदि रखने का अधिकार नहीं मिलता, जब तक काउन्सिलों में लोगों को यथेष्ट अधिकार नहीं प्राप्त होते, जब तक सरकार लंकाशायरवालों के आर्थिक लाभ का ध्यान नहीं छोड़ती, जब तक भारतवासियों की जीविका का कोई यथेष्ट प्रबन्ध नहीं होता और जब तक भारत में विदेशियों की लूट बन्द नहीं होती, तब तक भारतवासी कभी अंग्रेज़ों से सन्तुष्ट नहीं हो सकते। भारतवासियों को अपने देश में बहुत कष्ट होता है, इसलिए वे कनाडा और दक्षिण अफ्रिका आदि देश में जीविका उपार्जित करने के लिए जाते हैं पर वहाँ भी उनको ठोकरों के सिवा और कुछ नहीं मिलता। जब तक यह परिस्थिति बनी हुई है, तब तक भारत में सन्तोष और शान्ति के दर्शन नहीं हो सकते।

भारत के आन्तरिक प्रभेदों आदि का बहाना व्यर्थ है।

यदि भारतवर्ष सब बातों में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो और उसे अपने शिल्प आदि की रक्षा का पूर्ण अधिकार हो तो इसमें सन्देह नही कि वह अपनी सन्तान का बहुत अच्छी तरह पालन कर सकता है, बल्कि आवश्यकता पड़ने पर वह दूसरों का भी पालन कर सकता है पर कठिनता तो यह है कि उसे स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि भारत में अनेक धर्म, अनेक सम्प्रदाय, अनेक जातियाँ और अनेक भाषाएँ हैं इसलिए वह अपनी स्वतन्त्र सरकार नहीं स्थापित कर सकता क्योंकि उस दशा में सब भारतवासी आपस में ही लड़ मरेंगे पर ऐसा

कहनेवाले लोग शायद यह बात भूल जाते हैं कि भारत में अंग्रेज़ों का राज्य इधर सौ डेढ़ सौ वर्षों से ही हुआ है और उससे पहले भारत सदा स्वयं ही अपना शासन करता था। अंग्रेज़ों के आने के पहले भारत की जो दशा थी, आज उससे कुछ अच्छी दशा नहीं है। मल्का एलिजेबेथ के समय इंगलैण्ड की जो दशा थी, उसकी अपेक्षा अकबर के समय के भारत की दशा कहीं अच्छी थी। सम्भव है कि औरंगजेब के समय भारत की दशा खराब रही हो, पर उससे कहीं अधिक बुरी दशा में स्वयं इङ्गलैण्ड अनेक वार रह चुका है और दूसरे अनेक युरोपियन देश भी वैसी ही बल्कि उससे भी अधिक दुर्दशा भोग चुके हैं। अंग्रेज़ इतिहास लेखक इस बात को मानते हैं कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की प्रजा की दशा उस समय की देशी रियासतों की प्रजा की दशा से कुछ भी अच्छी नहीं थी और आज कल भी भारत की अंग्रेज़ी प्रजा की जो दशा है, उसकी अपेक्षा देशी राज्यों में बसनेवाले लोगों की दशा खराब नहीं है।

अमेरिका के संयुक्त राज्यों में भी तो अनेक धर्मों, सम्प्रदायों और जातियों के लोग बसते हैं पर फिर भी वहाँ वालों ने आपके सब मतभेद भुलाकर किस प्रकार एक अच्छी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की है। एक छोटे से स्विटजरलैण्ड में ही कितनी अधिक भाषाएँ बोली जाती हैं और वहाँ कितने अधिक धार्मिक सम्प्रदायों के लोग बसते हैं। यही दशा आस्ट्रिया हँगरी की भी है। ऐसी दशा में यह कहना ठीक नहीं है कि भारत में अनेक धर्मों, सम्प्रदायों के लोग बसते हैं, इसलिए यहाँ राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो ही नहीं सकती। दूसरी बात यह है कि भारत के सम्प्रदायों और जातियों आदि की संख्या हर बार मनुष्य गणना के समय जान बूझ कर खूब बढ़ाई।

जाती है। हर बार मनुष्य संख्या प्रायः ज्यों की त्यों रहने पर भी उसके सम्प्रदायों और जातियों आदि की संख्या बढ़ जाती है।

शिक्षा का अभाव अंग्रेज़ों का दोष है और यह स्वराज्य में बाधक नहीं हो सकता।

कुछ लोग अभी यह कहते हैं कि भारत में शिक्षा की बहुत कमी है, इसलिए वह स्वराज्य के योग्य नहीं है। यदि यह आक्षेप अंग्रेज़ लोग करें तो यह और भी अनुचित है क्योंकि भारत के अशिक्षित रहने में स्वयं अंग्रेज़ों का ही दोष है। जापान में पिछली शताब्दी में बहुत बाद में शिक्षा का कार्य आरम्भ हुआ था, पर वहाँ की दशा इस समय भारत की दशा से लाख दर्ज़े अच्छी है। १८७३ में वहाँ के बालकों में से प्रति सैकड़े २८ शिक्षा पाते थे, पर १९०२ में उनकी संख्या बढ़ कर ९० प्रति सैकड़ा हो गई थी। भारत में डेढ़ सौ वर्षों से अंग्रेज़ों का शासन है, पर अभी तक यहाँ के बालकों में से केवल २० प्रति सैकड़े ही शिक्षा पाते हैं। राष्ट्रीय दलवाले बराबर कहते हैं कि सरकार अनिवार्य आरम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध करे, पर सरकार सुनती ही नहीं। इस सम्बन्ध में स्व० मि० गोखले ने जो बिल उपस्थित किया था, उसका सरकार ने घोर विरोध किया था और उसे पास नहीं होने दिया था। यदि सर्वसाधारण अपनी ओर से शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहें तो उसमें भी सरकारी कानून बाधक होता है, यह एक और भी तमाशा है।

और फिर स्वराज्य के लिए यह भी तो कोई बहुत आवश्यक बात नहीं है कि देश के सभी लोग शिक्षित हों। आज से प्रायः पचास वर्ष पहले जब जापान में प्रतिनिधि सत्तात्मक शासन

स्थापित हुआ था, तब वहाँ का केवल उच्च वर्ग ही शिक्षित था। भारत में भी उच्च श्रेणी के लोग यथेष्ट शिक्षित हो गये हैं। स्वयं इंगलैण्ड में कई सौ वर्षों से पार्लियामेण्ट स्थापित है, पर वहाँ भी सार्वजनिक शिक्षा का प्रचार १८७० में ही हुआ था।

आन्तरिक संकट।

यह भी कहा जाता है कि यदि अंग्रेज़ लोग भारत से चले जायँगे और यहाँ स्वराज्य हो जायगा, तो यहाँ अनेक प्रकार के आन्तरिक संकट और उपद्रव उठ खड़े होंगे पर प्रश्न तो यह है कि क्या संसार में कोई ऐसा देश भी है जिसमें आन्तरिक संकट और उपद्रव नहीं हैं और तो क्या, स्वयं ग्रेटब्रिटेन में भी आन्तरिक संकटों का अभाव नहीं है। मेक्सिको में जब आन्तरिक उपद्रव खड़े हुए थे, तब राष्ट्रपति विल्सन ने कहा था कि वहाँ आन्तरिक उपद्रव उठने से ही हमें इस बात का अधिकार नहीं मिल जाता कि हम वहाँ के कामों में हस्तक्षेप करें।

एशिया वालों की प्रतिनिधिसत्ता के सम्बन्ध में अयोग्यता।

यह भी कहा जाता है कि एशियावाले इस योग्य ही नहीं हैं कि प्रतिनिधि सत्तात्मक शासन स्थापित कर सकें पर स्वयं भारत का प्राचीन इतिहास ही इस कथन का पूर्ण रूप से खण्डन करता है। जिस समय इंगलैण्ड और फ्रान्स को स्वप्न में भी प्रजासत्तात्मक शासन की कल्पना नहीं हुई थी, उससे सैकड़ों हज़ारों वर्ष पहले भारत में प्रजासत्तात्मक शासन प्रणाली उपस्थित थी। इतने पर भी यदि इस कथन की निस्सारता प्रमाणित करने के लिए किसी और प्रमाण की आवश्यकता हो तो उसके लिए जापान का उदाहरण मौजूद है।

राष्ट्रीयता का भाव रुक गया है।

इंग्लैण्ड को चाहिए कि वह परीक्षा करने के लिए भारत को स्वराज्य दे और तब यह देखे कि क्या ये सब विघ्न उसके मार्ग में बाधक होते हैं। यह बिलकुल निश्चित है कि राष्ट्रीयता के भाव न तो दबाये जा सकते हैं और न नष्ट किये जा सकते हैं। हाँ, इस समय भारत में उनका विस्तार कुछ रुक गया है और थोड़े समय तक रुका रहेगा पर आगे चल कर क्या होगा, यह ईश्वर ही जाने। महायुद्ध में इंग्लैण्ड चाहे हारे और चाहे जीते, पर भारत के राष्ट्रीय दल की हर हालत में जीत ही होगी। हमें यह सोचने की आवश्यकता नहीं है कि यदि इंग्लैण्ड हार जायगा तो उस समय भारत की क्या दशा होगी। यदि इंग्लैण्ड हार गया और भारत पर किसी और विदेशी जातिका अधिकार हो गया, तो इसके लिए भी इंग्लैण्ड ही दोषी ठहरेगा और यदि इंग्लैण्ड की जीत हुई तो फिर भारत के राष्ट्रीय दल की जीत तो रखी ही हुई है। उस दशा में भारत अपने पूरे राजनीतिक अधिकार माँगेगा। पर अँगरेज़ों के पुराने रंग ढंग से हम अभी से यह बात कह देते हैं कि वह उस समय भी भारत की यह उचित मांग पूरी करने से इन्कार करेगा। सम्भव है कि वह लोगों को थोड़े से अधिकार दे दे, पर लोगों ने अधिकार प्राप्ति के लिए जो जो कष्ट सहे हैं और जो जो स्वार्थत्याग किये हैं, उनको देखते हुए वे अधिकार कोई चीज़ न होंगे और उनसे देश सन्तुष्ट न होगा। लोगों में असन्तोष बहुत बढ़ जायगा और यही असन्तोष राष्ट्रीय भावों के बढ़ने में परम सहायक हुआ करता है। जब तक इंग्लैण्ड की पार्लीमेण्ट में कर्ज़न,

मेकडनल, सिडेनहम तथा इनकी कोटिके और लोग रहेंगे तब तक भारत के राष्ट्रीय भावों के पोषक द्रव्य असन्तोष का अभाव न होगा और हमें इस बात की कोई सम्भावना नहीं मालूम होती कि ये महानुभाव अपने स्थान से हट जायँगे। इसीलिए हम कहते हैं कि भारत का असन्तोष बराबर बढ़ता जायगा और अन्त में राष्ट्रीय दल की विजय होगी।

ऐसे ही लोगों ने बँमबाज़ी शुरू कराई है। महाभारत के राष्ट्रीय क्षेत्र में बँमो और रिवाल्वरों आदि का जो आविर्भाव हुआ है, वह कर्ज़न, मेकडानल और सिडेनहम सरीखे लोगों के कारण ही हुआ है। इनका व्यवहार करनेवाले युवक केवल परिस्थिति के कारण ही ऐसा करने के लिए विवश हुए हैं यह बड़े दुःख की बात है कि बेचारे अनेक युवक भारतवासी तो फ़ाँसी पर चढ़ाये जाते हैं और उनको ऐसे कामों में प्रवृत्त करानेवाले लोग स्वतंत्रता पूर्वक विचरण करते हैं और फिर पहले की तरह ही लोगों में विरोध और वैमनस्य आदि उत्पन्न करते रहते हैं। लेकिन ईश्वरीय गति बहुत ही विलक्षण हुआ करती है। सम्भव है कि वह ईश्वर ही किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए इन लोगों से यह काम करा रहा है। भारत वासियों का ईश्वर पर पूरा पूरा विश्वास है और वे समझते हैं कि संसार में जो कुछ होता है, वह सब सदा भले के लिए ही होता है। भारतवासी श्रेष्ठ उदार हैं। जब तक इंग्लैण्ड का जर्मनी के साथ युद्ध होता रहेगा; तब तक भारत कभी इंग्लैण्ड को न छेड़ेगा। पर हाँ! जब युद्ध समाप्त हो जायगा, तब भारत का झगड़ा खूब जोरों से उठेगा और वह स्थायी होने के साथ ही साथ अधिक विकट रूप भी धारण करेगा।

(१२) बोल्शेविज़्म—भूमिका लेखक—बाबू भगवानदास गुप्त—रूस के बोल्शेविज़्म सम्बन्धि सब बातों का सच्चा इतिहास-मूल्य १।=)

(१३) भारत-दर्शन—भूमिका लेखक—लाला लाजपतराय अँग्रेजों ने किस छल कपट से भारत को जीता और उसकी कैसी हीन दशा बना दी आदि अपने देश की सच्ची हालत जानना चाहते हैं तो इसे अवश्य मँगाइये। मूल्य २॥)

(१४) देशबन्धु सी. आर. दास की सचित्र जीवनी-मूल्य॥)

(१५) अकालियों का आदर्श सत्याग्रह और उनकी विजय-(ले० बाबू सम्पूर्णानन्द बी. एस. सी.) अकालियों का नाम आज संसार प्रसिद्ध हो गया है। इस पुस्तक को अवश्य पढ़िये—सचित्र मूल्य ॥)

(१६) खादी का इतिहास—यह पुस्तक हिन्दी-साहित्य में अपूर्व है। प्रत्येक भारतवासी को इसे अवश्य पढ़ना चाहिये-मूल्य ॥=)

(१७) विवाह-कुसुम—यह सामाजिक उपन्यास है। स्त्रियाँ, बच्चे, पुरुष सबके लिये शिक्षाप्रद है। रोचक इतना है कि बिना समाप्त किये चैन नहीं पड़ती। कई सुन्दर चित्र है। मूल्य १॥)

(१८) धर्म्म और जातीयता—नोटिस कवर पर देखिये।

(१९) तरुण-भारत—(ले० लाला लाजपतराय) लालाजी ने इस ग्रन्थरत्न को बडे परिश्रम से सैंकड़ों ग्रन्थों का अध्ययन कर लिखा है। अंग्रेजों ने भारत को किस तरह अपने पंजे में फँसा रखा है उसकी सच्ची पोल और उनकी शासननीति का सच्चा भेद इसमें बताया गया है। कहीं से भी लेकर इस पुस्तक को अवश्य पढ़िये। ऐसी पुस्तकें बार बार नहीं छपतीं। बडे जोशीले और निर्भीक विचार इस पुस्तक में भरे पड़े हैं। पुस्तक पढ़कर आप प्रसन्न होंगे। मूल्य १।) सजिल्द १॥।)

(२०) लक्ष्मी—पौराणिक उपाख्यान-लक्ष्मी जिसको राजा और रंक सब ही पाने की लालसा करते हैं उन्हीं की सचित्र जीवनी है। पातिव्रत-धर्म का पूर्ण आदर्श है। रंग-बिरंगे छै चित्र हैं। मूल्य १।)